

संपादकीय

महात्मागाँधी ने अपने पत्र 'यंग इण्डिया' में लिखा था "भारत में प्रजातंत्र जब भी आयेगा, उसकी सफलता का आधार होगा मतदाता की देशभक्ति, दूरदर्शिता एवं नागरिक कर्तव्यों के प्रति जागरूकता। जब तक जनमानस में इन्हें विकसित नहीं किया जाता, तब तक श्रेष्ठ प्रजातंत्र का सपना नहीं देखना चाहिए। श्रेष्ठ व्यक्तित्व ही किसी महत्त्वपूर्ण काम को ठीक तरह से संभाल सकते हैं। इसका चुनाव भी जागरूक जनमानस ही कर सकता है। यह व्यवस्था अन्योन्याश्रित है। यदि अवांछनीय तत्त्वों ने शासन पर नियंत्रण कर लिया तो उसका उपयोग के स्थान पर दुरुपयोग होगा, शासन भ्रष्ट होगा व सारे राष्ट्र को उसकी कीमत चुकानी होगी।"

महात्मागाँधी के उपर्युक्त कथन की सार्थकता आज की राजनैतिक व्यवस्था के सन्दर्भ में देखी जा सकती है। यदि प्रजातंत्र की स्थापना के साथ-साथ जनमानस की मूल्य-चेतना को विकसित करने हेतु शिक्षा एवं अन्य रचनात्मक कार्यक्रमों के माध्यम से प्रयास किया गया होता तो आज प्रजातंत्र अपने वास्तविक उद्देश्य से विचलित होकर नौकरशाहों और राजनेताओं के सुख-वैभव एवं समृद्धि का साधन न बन पाता। ठीक है कि हमारे पूर्वजों ने इस दिशा में कोई सार्थक कदम नहीं उठाया, लेकिन आज हम इस दिशा में क्या कर रहे हैं? आज व्यवस्था के नकारात्मक पक्ष पर तो सभी कुछ न कुछ वक्तव्य देते ही रहते हैं, लेकिन इस दिशा में किसी सकारात्मक कदम की ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती। या तो इसका यह अर्थ है कि हमारे अन्दर अनैतिक बुराई से लड़ने का नैतिक साहस नहीं है या हम भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से इस अनैतिक व्यवस्था के पोषक हैं। हमें इस दृष्टि से अपने व्यक्तित्व-कृतित्व का मूल्यांकन अवश्य करना चाहिए। साथ ही साथ 'सूचना के अधिकार', ऐसोसिएशन फॉर डेमोक्रेटिक रिफार्म (A.D.R.), 'चुनाव निगरानी कार्यक्रम', आदि नैतिक-रचनात्मक कार्यक्रमों के संचालकों से प्रेरणा लेकर अपनी भूमिका के सन्दर्भ में विचार करना चाहिए।

आज सबसे बड़ी जिम्मेदारी उन लोगों के ऊपर है, जो मूल्य-परक राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था की चाह तो रखते हैं, लेकिन इस तरह की व्यवस्था को स्थापित करने हेतु निष्क्रिय हैं। जो सक्रिय हैं, वे अपने स्तर पर जितना हो सकता है, यथा शक्ति प्रयासरत हैं। 'मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र' द्वारा संचालित मूल्य परक कार्यक्रम और यह मूल्य-विमर्श पत्रिका इस दिशा में एक सकारात्मक कदम है।

आप भी अपने सामर्थ्य के आधार पर प्रजातंत्र को उसके मौलिक स्वरूप में स्थापित करने में अपना योगदान दे सकते हैं। हम आपके इस तरह के किसी भी कदम का स्वागत करेंगे।

विज्ञान, धर्म और मानवहित

अजित नारायण त्रिपाठी

इस लेख में हम तीन प्रश्नों पर विचार करेंगे। पहला, विज्ञान और धर्म क्या हैं? इनका स्वरूप क्या है? दूसरा, ये मानव जीवन को किस प्रकार प्रभावित करते हैं? और तीसरा, इनमें क्या परिवर्तन होने चाहिए ताकि ये मानवहित के उन्नयन में अधिक सहायक बन सकें? इसके लिए हम विज्ञान और धर्म के दो पक्षों पर ध्यान देंगे : पहला, ज्ञानधारा के रूप में, और दूसरा, ऐसी सामाजिक शक्ति के रूप में जो सामाजिक व्यवस्था को, सामाजिक जीवन को और सामाजिक सरोकारों को प्रभावित करती है।

मानव एक जिज्ञासु प्राणी है। अपने चारों ओर वह जो कुछ भी देखता है, अनुभव करता है, उसे जानने-समझने का प्रयास करता है। इस समझ से उपजे ज्ञान को वह व्यवस्थित भी करता चला जाता है। दृश्य जगत् की नानाविध घटनाएं उसे आश्चर्य में डाल देती हैं। उनके बारे में मानवमन में अनेकानेक प्रश्न उठते हैं। जो घटित हुआ, या जो अनुभव हुआ, वह वास्तव में क्या था? वह कैसे हुआ? क्यों हुआ? जिन कारणों से, या जिन परिस्थितियों में वह घटना हुई, क्या उन स्थितियों में सदैव ऐसा ही होता है? इस घटना-क्रम को जानने-समझने के लिए क्या कोई कार्य-कारण व्यवस्था बनाई जा सकती है? आदि। इस प्रश्न पूछने और उनका उत्तर ढूँढने की प्रक्रिया से ही ज्ञान विकसित होता है। अपने निरीक्षण, परीक्षण, प्रयोग, अनुभव, मनन-चिंतन आदि के संयुक्त प्रयास से ज्ञान की विविध धाराओं की स्थापना करना, उन्हें निरंतर परिमार्जित, संवर्धित और विकसित करना, ज्ञान की नई धाराओं, उपधाराओं का सृजन करना,

मानव की सबसे बड़ी विशेषता है। यही उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि भी है। इस ज्ञान के आधार पर ही मानव सभ्यता एवं संस्कृति का विकास हुआ है, और होता रहेगा।

मानव सभ्यता को गतिमान बनाने वाली धाराओं में दो सर्वाधिक शक्तिमान धाराएँ हैं, विज्ञान और धर्म। इन दोनों के आपसी संबंध प्रायः संघर्षात्मक रहे हैं। पिछली कुछ शताब्दियों में हुई अभूतपूर्व वैज्ञानिक प्रगति से यह लगने लगा था कि धर्म का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। नहीं ही ऐसा होने की कोई संभावना है। मानव जीवन के लिए, और मानव सभ्यता के विकास के लिए, विज्ञान और धर्म दोनों का अपना महत्त्व है। पर इस विकास-क्रम में अपनी समुचित भूमिका निभाने के लिए दोनों के आपसी संबंध क्या हों, इस प्रश्न पर गहन चिंतन की आवश्यकता है। इसीलिए पिछली शताब्दि के प्रख्यात गणितज्ञ एवं दार्शनिक, ह्याइटहेड (Whitehead) ने कहा है कि मानव सभ्यता का भावी स्वरूप बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करेगा कि विज्ञान और धर्म एक दूसरे के साथ कैसा संबंध स्थापित करते हैं। अतः यह आवश्यक है कि हम इन दोनों की विशिष्टताओं का, उनकी मान्यताओं और मूल्य मर्यादाओं का तथा उनके अंतर्विरोधों का सम्यक् अध्ययन करें। अध्ययन का यह क्षेत्र बहुत व्यापक है। यहाँ हम केवल कुछ बिंदुओं को ही छू पाएंगे।

आधुनिक विज्ञान की जन्मस्थली यूरोप है। इसका उदय पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दि से प्रारंभ होता है। इसके पुरोधा थे कॉपरनिकस (१४७३-१५४३), फ्रांसिस बेकन (१५६१-१६२६), गैलिलियो (१५६४-१६४२)

और न्यूटन (१६४२-१७२७)। इन्होंने अपने शोध और चिंतन से आधुनिक विज्ञान की नींव डाली। साथ ही उन्होंने वैज्ञानिक ज्ञानार्जन की एक नयी विधा भी विकसित की। इस वैज्ञानिक दृष्टि की मूल मान्यताओं में से एक यह है कि प्राकृतिक गतिविधियाँ और घटनाक्रम अनियमित, असंबद्ध अथवा अव्यवस्थित नहीं होते। ये कुछ सामान्य नियमों से संचालित होते हैं। इन नियमों का अन्वेषण करना और तदनुरूप वैज्ञानिक सिद्धान्तों की स्थापना करना विज्ञान का प्रमुख उद्देश्य है। वैज्ञानिक सिद्धान्त तथ्यों पर आधारित होते हैं, ऐसे वस्तुपरक व असंदिग्ध तथ्यों पर जिनके सत्यापन में किसी की रुचि, इच्छा या व्यक्तिगत राय का प्रभाव न हो। तथ्यों से नियमों तक पहुँचने के कई सोपान होते हैं। इन सभी पर पूरी सतर्कता बरतने की आवश्यकता होती है ताकि ज्ञानार्जन में कहीं कोई त्रुटि न हो जाय। विज्ञान की सभी संकल्पनाएं, व्याख्याएं, प्रयोग-विधि, निष्कर्ष, आदि तार्किक एवं बुद्धि-संगत होते हैं। किसी भी सिद्धान्त को स्वीकार करने के पहले उसका तार्किक विधि से तथा प्रायोगिक विधि से भलीभाँति परीक्षण किया जाता है। इन प्रयोगों को दो प्रकार से देखा जा सकता है। पहले यह देखा जाता है कि इस सिद्धान्त के आधार पर किसी नई घटना या परिणाम के बारे में क्या भविष्यवाणी की जा सकती है। फिर ऐसे प्रयोग किए जाते हैं जिससे यह जाना जा सके कि क्या वास्तव में ऐसा ही होता है जैसा सिद्धान्त के अनुसार होना चाहिए। यह भी देखा जाता है कि क्या सभी परिस्थितियों में सिद्धान्त द्वारा पूर्वानुमानित बातें सच होती हैं। दूसरी दृष्टि से यह प्रयास किया जाता है कि कैसे इस सिद्धान्त को ग़लत साबित किया जाय। जब ऐसे सभी संभव प्रयास असफल हो जाते हैं तो उस सिद्धान्त को फिलहाल^४ के

लिए सही मान लिया जाता है।

महत्वपूर्ण बात यह है कि वैज्ञानिक सिद्धान्तों की स्वीकृति सदा अस्थायी होती है। किसी भी सिद्धान्त को सदा के लिए अंतिम सत्य नहीं माना जाता। यह संभावना सदा बनी रहती है कि नए तथ्यों के सामने आने पर, नई वैज्ञानिक दृष्टि के उदय होने पर, या नये प्रयोगों के आधार पर कोई भी स्थापित सिद्धान्त परिवर्तित या विस्थापित हो सकता है। विज्ञान की यह परिपाटी रही है कि एक समय के स्वीकृत सिद्धान्त दूसरे समय में अमान्य हो जाते हैं। उनका स्थान नए और बेहतर सिद्धान्त ले लेते हैं। सिद्धान्त परिवर्तन और विस्थापन की यह प्रक्रिया विज्ञान में सदैव चलती रहती है। इसी से विज्ञान आगे बढ़ता है। यदि विज्ञान स्थिर हो गया तो यह उसका अंत होगा, उसी प्रकार जैसे जल-प्रवाह रुक जाने पर नदी का अंत हो जाता है। अतः विज्ञान में किसी अंतिम, अपरिवर्तनीय अथवा सार्वकालिक सत्य के लिए कोई स्थान नहीं होता।

धार्मिक दृष्टि इस वैज्ञानिक दृष्टि से नितांत भिन्न होती है। धार्मिक सत्य और धार्मिक मान्यताएं आस्था पर आधारित होती हैं। वे तर्क से अथवा वैज्ञानिक अन्वेषण से नहीं स्थापित की जातीं। आस्था का निहितार्थ है किसी बात पर ऐसा गहन, श्रद्धापूर्ण और संदेहरहित विश्वास जिसके लिए किसी तर्क अथवा प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। धार्मिक आस्था का केन्द्रबिन्दु है एक अलौकिक, मानवोपरि, दिव्य ईश्वरीय सत्ता में विश्वास। वह सत्ता ही इस विश्व की रचयिता, नियामक, पालनहार और आधार है। संसार में जो कुछ भी घटित होता है उसकी इच्छा, या उसके विधान के अनुसार होता है। इस धार्मिक दृष्टि के अनुसार मानव भी उसी ईश्वर की एक कृति है। वह जो कुछ

भी है, उसकी जो भी क्षमताएं, गुण-कौशल हैं, वे सभी ईश्वरीय देन हैं। कुछ धर्म तो यह भी मानते रहे हैं कि संसार और मानव जीवन के सभी सत्य, उनके विषय में जानने योग्य सभी ज्ञान, उनके पवित्र धार्मिक ग्रंथों में लिखे हैं। इन ग्रंथों के वर्णन अकाट्य सत्य हैं क्योंकि इन्हें स्वयं ईश्वर ने, या ईश्वरीय प्रेरणा से पैगंबरों ने, प्रकट किए हैं। कुछ भारतीय धर्म परंपराओं में, जैसे जैन धर्म या बौद्ध धर्म में ईश्वर की ऐसी मान्यता नहीं है। पर उनमें भी तीर्थंकरों या गौतम बुद्ध को ईश्वर के ही समतुल्य माना जाता है। उनके वचनों एवं उपदेशों के प्रति वैसी ही प्रगाढ़ आस्था रखी जाती है जितनी ईश्वर-केन्द्रित धर्मों में।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वैज्ञानिक सत्य और धार्मिक सत्य में कहीं कोई साम्य नहीं है। धर्म द्वारा प्रतिपादित ईश्वरीय तत्त्व का, उसके स्वरूप, गुण-धर्म का, उसकी शक्तियों और कार्य प्रणाली का अन्वेषण वैज्ञानिक विधि से नहीं किया जा सकता। विज्ञान के लिए धर्मग्रंथों की पवित्रता, सिद्धजनों की आन्तरिक स्वानुभूति, पैगंबरों के वचन, पारम्परिक आख्यान, आदि प्रमाण नहीं हो सकते। फिर भी ईश्वर के अस्तित्व को वस्तुनिष्ठ सत्य, अथवा परम सत्य (Truth, with a capital T) के रूप में प्रमाणित करने के लिए, तथा अन्य धार्मिक मान्यताओं को सत्यापित करने के लिए कई प्रकार के 'वैज्ञानिक' तर्क दिए जाते हैं। इन प्रयासों की क्या सार्थकता है, यह स्पष्ट नहीं है। जिन्हें ईश्वर में पूरी आस्था है, उन्हें इन तर्कों की कोई आवश्यकता नहीं है। और जिन प्रबुद्धजनों को ऐसा कोई विश्वास नहीं है, या वे इसकी कोई आवश्यकता नहीं महसूस करते हैं, उन पर इन बातों का कोई असर नहीं होता। शायद आस्था और अनास्था के बीच झूलते कुछ लोगों को ये तर्क आकृष्ट करते

हों। कुछ भी हो, इन तर्कों को वैज्ञानिक विमर्श के समकक्ष नहीं रखा जा सकता।

प्राकृतिक घटनाओं का तथ्यपरक वैज्ञानिक अनुसंधान मानवमन की जिज्ञासा और उसकी सृजनात्मकता का केवल एक क्षेत्र है, वह भी छोटा सा क्षेत्र। प्रकृति और संसार के विषय में मानव अनेकानेक ऐसे 'बड़े' प्रश्न उठाता है, जो विज्ञान की परिधि के बाहर हैं। जैसे, यह विश्व कैसे और क्यों अस्तित्व में आया? वह जैसा है वैसा ही क्यों है? क्या यह अकारण है, या किसी उद्देश्य से बनाया गया है? इसकी परिणति क्या होगी? क्या इस नित्य परिवर्तनशील संसार का कोई स्थिर आधार है? इनसे भी बड़े और गूढ़ प्रश्न वह अपने और अपने जीवन के बारे में उठाता है। मैं कौन हूँ? मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है? मानव जीवन का तात्पर्य क्या है? क्या लक्ष्य है? इस संपूर्ण जागतिक व्यवस्था से उसका क्या संबंध है? इसमें उसका क्या स्थान है? जीवन में नाना प्रकार के दुःख क्यों हैं? कैसे उनका निराकरण हो सकता है? इन प्रश्नों से मानव प्राचीन काल से जूझता रहा है। और वे आज भी उसे उद्वेलित करते रहते हैं।

संसार और मानव जीवन के अस्तित्व से जुड़े उपर्युक्त आधारभूत प्रश्नों का उत्तर वैज्ञानिक विधि से नहीं खोजा जा सकता है। इन प्रश्नों का अनुसंधान करने के लिए वैज्ञानिक विधि बनाई ही नहीं गयी है। अतः ऐसे अनुसंधान के लिए हमें दार्शनिक और आध्यात्मिक चिंतन के क्षेत्र में जाना होगा। भारतीय परंपरा में दर्शन, अध्यात्म और धर्म घनिष्ठ रूप से जुड़े हैं। सुविधा के लिए इस विस्तृत ज्ञान क्षेत्र को हम 'परा-वैज्ञानिक' (meta-scientific) ज्ञान कह सकते हैं। इसके आधार स्तंभ हैं, दार्शनिकों के तात्त्विक चिंतन की सदियों पुरानी परम्परा से स्थापित ज्ञान, ध्यान, योग एवं आध्यात्मिक

साधना से मिले आप्तज्ञान, धर्म प्रवर्तकों की अंतर्दृष्टि से उपजे ज्ञान, महापुरुषों के उद्गार तथा संत वचन, धर्मग्रंथों की धारणाएं एवं व्यवस्थाएं, तथा सभ्यता के लंबे विकास के अनुभव से स्थापित जीवन मूल्य। इस ज्ञान की स्वीकृति में भावनात्मक लगाव, ज्ञान के प्रणेताओं के प्रति श्रद्धा, व्यक्तिगत आस्था—विश्वास, परंपरा का दबाव आदि का महत्त्व बौद्धिक—तार्किक संगति से भी अधिक होता है। अतः इस क्षेत्र के ज्ञान में वैसी स्पष्टता, निश्चयात्मकता, और असंदिग्धता नहीं होती जैसी विज्ञान द्वारा परीक्षित ज्ञान में।

वैज्ञानिक ज्ञान—मीमांसा की कसौटी पर यह परा—वैज्ञानिक ज्ञान भले ही खरा न उतरे, पर मानव जीवन पर और मानव संस्कृति के विकास पर इसका प्रभाव विज्ञान से भी अधिक गहरा है। जीवन और जगत् के विषय में उठाए गए मूलभूत प्रश्नों के जो उत्तर हम पाते हैं, उनके आधार पर हमारी जीवन—दृष्टि और विश्व—दृष्टि का निर्माण होता है। ये दृष्टियां मिल कर वह चश्मा बनाती हैं जिसके द्वारा हम विश्व को, प्रकृति को, अपने आप को, अपने जीवन को, समाज को देखते हैं, और उनसे अपने संबंध स्थापित करते हैं। इसी के आलोक में हमारे सांस्कृतिक और नैतिक मूल्य विकसित होते हैं तथा सभ्यता के प्रतिमानों की स्थापना होती है। और इन्हीं मान्यताओं और मूल्यों के रंगों में हमारे सुखी, सफल एवं सार्थक जीवन की कल्पना के ताने—बाने रंगे होते हैं।

भारतीय दार्शनिक—आध्यात्मिक चिंतन परंपरा ने उपर्युक्त बड़े प्रश्नों पर विशद चिंतन किया है। इस परंपरा की अन्वेषणात्मक शैली कई अर्थों में वैज्ञानिक दृष्टि से मेल खाती है। वैचारिक वैभव के अपने उत्कर्ष काल में इस परंपरा ने जीवन और जगत् के विषय में कई नए विचार एवं सिद्धान्त

विकसित किए। इसमें कुछ सिद्धान्त ईश्वरवादी थे तथा कुछ निरीश्वरवादी। इनमें भी कई विभेद हैं। पर कालान्तर में इस प्रवाहमान चिंतन परंपरा से निकली अवधारणाओं ने कुछ स्थिर आस्था—विश्वास केन्द्रों का रूप ले लिया। इन मान्यताओं को आधारभूत सत्य मानकर भारतीय धार्मिक परम्पराएं विकसित हुई जिन्हें आज हम हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्म के नाम से जानते हैं। इनके अपने आस्था केन्द्र, धार्मिक प्रतीक और उपासना विधियाँ हैं। इनके अनुयायी अपनी अलग धार्मिक पहचान के प्रति संवेदनशील और निष्ठावान हैं। इस प्रकार भारतीय मूल के ये धर्म भी अंग्रेजी के शब्द Religion की अवधारणा के अनुरूप हो गए हैं। कोई चिंतन परंपरा जब स्थिर आस्था—विश्वास केन्द्रित धर्म का रूप ले लेती है तो ज्ञानधारा के रूप में उसका अंत हो जाता है। नए विचारों द्वारा संवर्धित और परिष्कृत न हो पाने के कारण उसके द्वारा स्थापित ज्ञानकोश नए युग की चुनौतियों का सामना करने के लिए धीरे धीरे अपर्याप्त हो जाता है। पारंपरिक जीवन मूल्यों में कुछ तो सार्वकालिक होते हैं, पर बहुत कुछ नए समय के लिए अप्रासंगिक हो जाते हैं। अतः धार्मिक परंपराएं प्रायः मानवहित और मानव विकास में सहायक न होकर केवल एक बोझ बन कर रह जाती हैं।

अभी तक हम अपने पहले प्रश्न पर विचार कर रहे थे। यह प्रश्न था, विज्ञान और धर्म के स्वरूप क्या हैं? इसके लिए हम उन्हें मुख्यतः ज्ञान धाराओं के रूप में देख रहे थे। अब हम अपने दूसरे प्रश्न पर आते हैं कि विज्ञान और धर्म मानव जीवन को किस प्रकार प्रभावित करते हैं? ये प्रभाव सकारात्मक भी हैं और नकारात्मक भी। हम दोनों की पड़ताल करना चाहेंगे। हमारी दृष्टि में इन दोनों का महत्त्व इस बात में है कि वे मानव जीवन की

समस्याओं को सुलझाने में कितना और कहाँ तक योगदान करते हैं, इस बात में नहीं कि वे हमें किसी 'सत्य' का कितना ज्ञान कराते हैं। इसके लिए विज्ञान और धर्म को केवल शुद्ध, निरपेक्ष ज्ञानधारा के रूप में नहीं, वरन् उनको ऐतिहासिक संदर्भ में तथा आज के जीवन और सामाजिक यथार्थ से जोड़ कर देखना होगा। पहले बात विज्ञान की।

विज्ञान और उससे निकली प्रौद्योगिकी ने मिलकर मानव जीवन को कई प्रकार से सुरक्षित और निरापद बनाया है। साथ ही, जीवन के भौतिक-आर्थिक आधार को सुदृढ़ और समृद्ध बना कर मानव कल्याण में अपनी सशक्त भूमिका निभायी है। निरंतर विस्तृत होता व्यक्तिगत और सामुदायिक सुख-सुविधाओं का आधुनिक जाल विज्ञान की ही देन है। इनके कारण जीवन आज अधिक सुगम व विस्तीर्ण हुआ है। भौतिक जीवन के साथ ही साथ विज्ञान ने हमारे बौद्धिक जीवन-क्षेत्र को भी समृद्ध किया है। इसने हमारे सोचने का तरीका ही बदल दिया है। ज्ञानार्जन की उसकी नई दृष्टि के कारण आज हम केवल प्रकृति को ही नहीं, वरन् अपने समाज को, उसकी व्यवस्था और घटना-क्रम को, अधिक व्यवस्थित तरीके से समझ सकते हैं। सामाजिक विज्ञान की विभिन्न शाखाएं इस व्यवस्थित ज्ञान के उदाहरण हैं। इसी प्रकार, मनोविज्ञान ने हमें मानवमन को, उसके व्यक्तित्व और व्यवहार प्रकारों को, उसके मनोविकारों, भानवानात्मक संवेगों और उद्वेगों को बेहतर तरीके से जानने-समझने का शास्त्र दिया है। इन विविध ज्ञान-शास्त्रों का प्रयोग करके पिछली कुछ शताब्दियों में मानव ने अभूतपूर्व प्रगति की है। इसी कारण आधुनिक युग को हम वैज्ञानिक युग कहते हैं, और विज्ञान को इसका 'युग प्रवर्तक'।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी को युग-प्रवर्तक के

पूजनीय आसन पर बिठाने का एक और कारण भी है। इनसे प्रेरित और इन पर आधारित विकास-प्रयासों की सफलता ने हमें यह सिखाया कि हम स्वयं अपने प्रयासों से मानव जीवन के नानाविध कष्टों से, बेड़ियों से, सीमाओं से, मुक्त हो सकते हैं, तथा भौतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों को बदल कर जीवन को बेहतर बना सकते हैं। इसके लिए हमें किसी मानवोपरि दैवी शक्ति की सहायता, अनुज्ञा या कृपा की आवश्यकता नहीं है। इस विचार ने मानव-स्वातंत्र्य को, तथा मानव के आत्म-सम्मान और आत्म-विश्वास को सुदृढ़ बनाया। इस संबल ने मानव को मध्ययुगीन धर्म-तंत्र की दासता से, धार्मिक-सामाजिक कुरीतियों एवं अंधविश्वासों से, मुक्त कराने में अप्रतिम योगदान दिया है।

पर जैसे चंद्रमा के शुक्लपक्ष के साथ कृष्णपक्ष भी जुड़ा होता है उसी प्रकार विज्ञान का भी एक नकारात्मक पक्ष है। पुरानी धार्मिक-सामाजिक जकड़नों से निकाल कर आधुनिक विज्ञान ने, और उससे पोषित सामाजिक शक्तियों ने, मानव को कई प्रकार की नई जकड़नों में बांध दिया है। ये जकड़नें मुख्यतः बौद्धिक और सामाजिक हैं। आधुनिक विज्ञान के झंडाबरदारों ने पुरजोर ढंग से यह विचार प्रतिपादित किया कि किसी भी क्षेत्र में, किसी प्रकार का सही ज्ञान वैज्ञानिक विधि से ही प्राप्त हो सकता है। चूंकि अध्यात्म, धर्म, दर्शन आदि के क्षेत्र में यह विधि काम नहीं कर सकती इसलिए परा-वैज्ञानिक विधि से स्थापित यह ज्ञान परंपरा संदिग्ध है, अतः अमान्य है। इसी प्रकार मानव जीवन के अन्य पक्षों को, और उनसे जुड़े मूल्यों को — जैसे मानवीय संवेदनाएं, सौन्दर्यबोध, नैतिक और अन्य मानवीय मूल्य मर्यादाएं, जिन्हें न तो गणितीय सूत्रों में बांधा जा सकता है और न कंप्यूटर की मेमोरी में भरा जा सकता है — गौण या महत्त्वहीन करार दिया गया। पिछली कुछ

शताब्दियों में निरंतर शक्तिशाली होती विज्ञान की 'विजय यात्रा' ने पहले मानव के पारम्परिक आस्था-विश्वास केन्द्रों को ध्वस्त किया। फिर उसने मानव और उसकी मानवीयता या मानवत्व का भी अवमूल्यन कर दिया। विज्ञान की यांत्रिकी विश्व-दृष्टि तथा जीवन दृष्टि ने प्रकृति के साथ-साथ मानव को भी केवल एक जटिल यांत्रिक व्यवस्था के रूप में देखा : वह विद्युतीय-रासायनिक संकेतों से संचालित मशीन है; वह आकस्मिक रूप से एकत्रित हुए कुछ अणुओं का समूह मात्र है ; वह एक सुपर कंप्यूटर है, आदि। मनोवैज्ञानिकों के एक बड़े वर्ग ने मानव को अचेतन मन से उद्भूत, अनियंत्रित मनोवेगों से संचालित पशु के रूप में चित्रित किया। मानव के आधारभूत जीवन मूल्यों में से एक-सार्वजन्य प्रेम - को केवल यौनाकर्षण का साधन मात्र करार दिया गया। इसी प्रकार कुछ अन्य नियतिवादी, भौतिकवादी 'वैज्ञानिक' दृष्टियों ने कई प्रकार से मानव का अवमूल्यन करके यह घोषित कर दिया कि वह पूर्णतः प्रकृति परतंत्र है। उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। वह जैसा भी है, जो कुछ भी है, और जो कुछ भी करता है या कर सकता है, वह सब पूर्व निर्धारित नियमों के अनुसार होता है। मानव की स्वतंत्र इच्छा शक्ति एक भ्रम है। सामाजिक विज्ञान ने उसे पूर्णतः समाज परतंत्र और नृशास्त्रियों ने संस्कृति परतंत्र बता दिया। प्रेम के समकक्ष मानव का सर्वाधिक महत्वपूर्ण जीवन मूल्य है उसका स्वातंत्र्य। इन्हें छीन कर विज्ञान ने मानव का अमानवीकरण कर दिया।

वर्तमान समय में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की भी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं रह गयी है। वे इस युग की सर्वाधिक प्रबल शक्तियाँ- राज्य की सैन्यशक्ति और बाजार की अर्थशक्ति- के दास बन कर रह गए हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक समिति

का आंकलन है कि आज पूरे विश्व में शोध पर हो रहे खर्च का करीब अस्सी प्रतिशत, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शस्त्रों की होड़ को आगे बढ़ाने के लिए हो रहा है। यानी पारंपरिक हथियारों, तथा आणविक, रासायनिक, जैविक आदि नए घातक हथियारों की धार को और अधिक मारक बना देने के लिए। और बाकी बीस प्रतिशत शोध-व्यय का अधिकांश भाग पूंजीपतियों एवं बड़ी-बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियों का मुनाफा बढ़ाने के लिए। इन शक्तियों ने प्रकृति के साथ-साथ मानव को भी अपना दास बना लिया है। बाजार की दृष्टि में मानव या तो औद्योगिक उत्पादन के लिए एक संसाधन है- मानव संसाधन- या इनके उत्पादों को खरीदने वाला ग्राहक-उपभोक्ता। आज की समाज-व्यवस्था के प्रायः सभी तंत्र मानव को इसी सीमित भूमिका में ढकेलने के लिए उद्यत दिखायी देते हैं। उदाहरण के लिए - सरकार ने शिक्षा मंत्रालय का नाम बदल कर 'मानव संसाधन विकास मंत्रालय' कर दिया। प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध दोहन करके, वातावरण को नाना प्रकार से प्रदूषित करके इन शक्तियों ने प्रकृति को भी विध्वंस के कगार पर पहुँचा दिया है। फलतः पृथ्वी की जीवन धारण क्षमता पर ही प्रश्न चिन्ह लगने लगा है। और अब तो अंतरिक्ष में भी मानव जनित कचरों का बोझ बढ़ रहा है। ऐसे परिदृश्य में विज्ञान को और उसके द्वारा पोषित उन शक्तियों को जिनके साथ विज्ञान आज खड़ा है, मानव हितकारी कहना एक बड़ी विडंबना होगी।

और अब बात धर्म की। आधुनिक युग के पहले मानव के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का नियामक धर्म था। अपने देश में तो यह बात आज भी स्पष्ट दिखाई देती है। हमारी संस्कृति के सभी अंग- पारिवारिक - सामाजिक संबंध, अस्मिवादन,

शिष्टाचार एवं परस्पर व्यवहार के तरीके, दैनंदिन जीवन, जन्म से लेकर मृत्यु तक के सभी पड़ावों पर के कर्मकांड, उत्सव, साहित्य, संगीत एवं अन्य ललित कलाएं, नैतिक मूल्य मर्यादाएं, आचार-विचार आदि - धर्म से अनुप्राणित हैं। इसीलिए अपने देश को 'धर्म-प्रधान' देश कहा जाता है। हमारी इस वैभवशाली सांस्कृतिक परंपरा ने हमें सदैव व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन को मर्यादित, कल्याणकारी, सभ्य और उल्लासमय बनाने की प्रेरणा दी है। ऐतिहासिक उथल-पुथल के प्रचंड एवं विघटनकारी दौर में भी यह संस्कृति और उसकी यह प्रेरणा जीवंत रही। और इसी कारण हमारी हस्ती मिटी नहीं। आज की व्यक्तिवादी, प्रभुत्ववादी और बाजारवादी संस्कृति का सामना करने में यही धर्म-प्रेरित संस्कृति हमारी सबसे बड़ी शक्ति है।

धर्म का दूसरा मानवहितकारी पक्ष है, उन नियमों सिद्धान्तों और मूल्यों को प्रतिष्ठित करना जिनसे मानव जीवन और मानव समाज मर्यादित होते हैं। मानव कल्याण और अभ्युदय की इस भावना से प्रेरित हो धर्म ने नैतिक और मानवीय मूल्यों को जीवन व्यवहार में उतारने के लिए अनेक व्यवस्थाएँ दी हैं। अपनी आदिम सहज प्रवृत्तियों, उच्छृंखल एवं आक्रामक मनोवेगों, स्वार्थ, अहंकार, आदि पर अंकुश लगा कर तथा अपनी भौतिक, ऐन्द्रिक सुखाकांक्षाओं को नियंत्रित करके, सभ्य तथा मानवोचित व्यवहार की प्रेरणा हमें धर्म से ही मिलती है। जीवन-व्यवहार के विभिन्न क्षेत्रों में कर्तव्यों और दायित्वों को परिभाषित करना और उनके समुचित निर्वहन के लिए हमारे ऊपर नैतिक दबाव बनाने का काम धर्म करता है। धार्मिक मूल्य चिंतन ने सर्वदा हमें छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेष आदि दुर्गुणों को छोड़ कर, मैत्री, करुणा, दया, प्रेम, परोपकार आदि मानवीय मूल्यों को अपने जीवन में

उतारने की शिक्षा दी है। विभिन्न धर्मों की तात्त्विक दृष्टि, ईश-वंदना विधि, परलोक कल्पना के विचार, आदि में बहुत विभेद हैं। पर उनकी नैतिक मूल्य मान्यताओं में बहुत साम्य है। अनैतिक, अमर्यादित और असभ्य व्यवहार को रोकने में धार्मिक मान्यताएं आज भी प्रभावशाली हैं। एक पुलिस अधिकारी का आंकलन है कि अपराध रोकने में पुलिस और कानून के भय की भूमिका बहुत कम होती है, संभवतः दस प्रतिशत भी नहीं। सर्वाधिक प्रभावशाली अंकुश है धर्म और ईश्वर का भय। उसके बाद आता है लोकलाज का भय।

धर्म ने मानव जीवन का उदात्तीकरण करके उसे उच्चतर जीवन-लक्ष्यों की ओर बढ़ने की प्रेरणा दी है। इस प्रेरणा में मान्यता है कि मनुष्य केवल शरीर, मन, बुद्धि की एक सीमित और संकुचित इकाई मात्र नहीं है। जीवन का वास्तविक सत्य वह आत्म-तत्त्व है जो गहरे धरातल पर संपूर्ण प्राणिमात्र में, प्रकृति में, चराचर जगत् में, और पूरे ब्रह्मांड में व्याप्त है। हम सभी इस संपूर्ण और विराट अस्तित्व के अंग हैं। व्यक्तिगत और सामुदायिक समस्याओं, कष्टों, दुःखों का मूल कारण यह है कि हम अज्ञानवश अथवा मोहवश अपने को इस समष्टि से काटकर केवल एक व्यक्ति तक ही सीमित कर लेते हैं। तब हम केवल अपने हितचिंतन में ही संलग्न रह जाते हैं। इस स्वार्थपरक, आहंकारिक सोच के कारण हम दूसरों के हित का ध्यान नहीं रखते। उससे भी बुरा, औरों का अहित कर के भी अपना हित सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। यही सारे अन्याय और शोषण की जड़ है। इनसे मुक्त होकर, अपने और अन्य सभी के सुख, आनन्द, कल्याण की पूर्ण और अविच्छिन्न स्थिति को प्राप्त करने के लिए हमें अपने स्व का असीमित विस्तार करना होगा, सभी को अपना समझना होगा। इस समष्टिवादी आध्यात्मिक

दृष्टि से ही वसुधैव कुटुम्बकम् की वह भावना सशक्त होगी जिसके अभाव में मानव जाति अपने को नाना प्रकार के वर्गों, संप्रदायों, क्षेत्रों, संस्कृतियों, राष्ट्रों में बांट कर अपने अपने स्वार्थ के लिए कलह, संघर्ष और युद्ध करती रहती है। आज का पारस्थितिकी विज्ञान मनुष्य और प्रकृति के बीच पारस्परिकता, पूरकता के सिद्धान्त की बात करता है। भारतीय आध्यात्मिक विश्वदृष्टि और जीवनदृष्टि इस सिद्धान्त की सर्वाधिक सशक्त वैचारिक आधारशिला बन सकती है। यह दृष्टि हमें प्रकृति और संपूर्ण अस्तित्व के साथ साहचर्य और मैत्री भाव स्थापित करके रहने की प्रेरणा देती है। पर्यावरणीय प्रदूषण, पारस्थितिकीय असंतुलन और भौतिक प्रगति के लिए प्रकृति का विनाश के हद तक दोहन से आज मानव जीवन के अस्तित्व के लिए गंभीर संकट पैदा हो गया है। इस संकट से उबरने के लिए उपाय ढूँढने में भारतीय आध्यात्मिक दृष्टि अप्रतिम योगदान कर सकती है।

पर विज्ञान की ही तरह धर्म के भी कई नकारात्मक एवं मानव विरोधी पक्ष हैं। उनकी अनदेखी करना बौद्धिक — वैचारिक बेईमानी होगी। ईश्वर का प्रभुत्व स्थापित करने के लिए, उसे सर्वशक्तिमान दिखाने के लिए धर्म प्रायः मानव को, उसकी क्षमताओं को, तुच्छ बताता है। धर्म कहता है, 'तुम तो केवल माटी के लोंदे हो। यह तो ईश्वर है जो तुममें प्राण फूँक कर तुम्हें जीवन दान देता है। तुम्हारी अपनी कोई शक्ति — सामर्थ्य नहीं है। तुम्हारे पास जो कुछ भी दीखता है, सब ईश्वर की कृपा है। तुम्हारा कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। तुम अपनी इच्छा से कुछ भी नहीं कर सकते। तुम्हारा कल्याण इसी में है कि ईश्वर के दासानुदास बन जाओ। अन्यथा ईश्वर के कोप भाजन बनोगे और घोर नरक में जाओगे'। इन बातों ने मानव के आत्मविश्वास को,

और स्वप्रयास से बेहतर जीवन बनाने के उत्साह को कम किया है।

मानव का सबसे विशिष्ट गुण है उसकी बौद्धिक—तार्किक क्षमता। यही उसकी सबसे बड़ी ताकत भी है। इसी के आधार पर वह नए विचारों को जन्म देता है, पुराने विचारों और व्यवस्थाओं का परीक्षण करता है, उन्हें बदल कर नई व्यवस्थाएँ स्थापित करता है। इसी के आधार पर मानव जीवन और मानव समाज प्रगति करता है, आगे बढ़ता है। पर प्रायः सभी धर्म तर्क—बुद्धि की अवमानना करते हैं। उसे भ्रम में डालने वाली, मायावी, क्षणिक और गलत राह पर ले जाने वाली बताते हैं। कुछ मत तो बुद्धि को आध्यात्मिक प्रगति में सबसे बड़ी बाधा मानते हैं। कुछ उसे 'अनुकूल' तर्क के रूप में केवल अपनी मान्यताओं का समर्थन करने के लिए तर्क ढूँढने का अधिकार देते हैं। और कुछ धर्म तो अपनी धार्मिक मान्यताओं पर प्रश्न चिन्ह लगाने को ही अक्षम्य, यहाँ तक की वध—योग्य, अपराध मानते हैं। अतः धार्मिक परंपराओं में अपना स्वनिरीक्षण करके युगानुरूप नई व्यवस्थाओं, विचारों और मूल्यों को स्थापित करने की प्रगतिशील भावना नहीं होती।

धार्मिक जीवन की आज सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि वह केवल आस्था—विश्वास, पूजा—पाठ, परलोक चिंतन, कर्मकांड तक ही सीमित रह गया है। उसमें नैतिक भावना एवं मानवीय संवेदना से निकले मूल्य— जैसे दायित्व बोध, न्याय प्रियता, ईमानदारी, दूसरों के दुःख में सहभागिता, सेवा भाव—आदि के प्रति कोई विशेष आग्रह नहीं रह गया है। कोई व्यक्ति चाहे कितना भी बेईमान हो, दुष्ट हो, पर यदि वह भगवान में विश्वास करता है, मंदिर में जाता है, तो धार्मिक कहा जाएगा। और इसके विपरीत, कोई कितना भी भला हो, परोपकारी हो, सच्चरित्र हो, पर ईश्वर में विश्वास न करता हो

तो उसे धार्मिक नहीं कहा जाएगा।

धर्म केवल प्राचीन धर्मग्रंथों में वर्णित ईश्वरीय ज्ञान या आध्यात्मिक चिंतन का पुंज मात्र नहीं है। वह एक अत्यंत प्रभावशाली सामाजिक-ऐतिहासिक शक्ति है, जो सामाजिक व्यवस्था को, उसके वर्ग विभाजन को और इन वर्गों के बीच शक्ति-संतुलन को गंभीर रूप से प्रभावित करती है। मानव समाज का इतिहास धार्मिक संघर्ष, हिंसा और नरसंहार के रक्त-रंजित पन्नों से भरा पड़ा है। आज भी धार्मिक उन्माद का दौर थमते नहीं दीखता। धार्मिक रूढ़िवादिता एवं कट्टरता ने समाज को बांटकर परस्पर विरोधी खेमों में खड़ा कर दिया है। सर्वधर्म समभाव, साम्प्रदायिक सहिष्णुता, आदि उदार और सौम्य भावों के स्थान पर, अपने को सर्वश्रेष्ठ स्थापित करने की आहंकारिक प्रवृत्ति ही आज धर्म में अधिक दिखाई देती है। धार्मिक संगठन, धार्मिक संस्थाएं और उनको संचालित करने वाले धर्मगुरु, आर्थिक और राजनैतिक प्रभुत्व के केन्द्र बन गए हैं। कुछ तो धार्मिक भावनाओं को उभाड़ कर, धार्मिक विद्वेष फैला कर और धर्म का भय दिखा कर अपने अनुयायियों पर अपना आधिपत्य जमाना और उनका शोषण करना भी अपना 'धर्म' समझते हैं। धर्म की राजनीति, राष्ट्रीय स्तर पर भी और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी, आज के जीवन का कटु यथार्थ है।

कुल मिला कर धर्म का नकारात्मक पक्ष ही आज अधिक प्रभावशाली दीखता है। उसमें आज के जीवन की सामाजिक-सामुदायिक समस्याओं का हल खोजने की सकारात्मक भावना नहीं रही। और नहीं ही, जन कल्याण, लोक संग्रह और लोक मंगल के लिए काम करने की। धर्म में आज संरक्षणात्मक प्रवृत्ति का ही प्राधान्य है। भविष्योन्मुख हो कर आज की, और आने वाले कल की, चुनौतियों का सामना करने का भाव उसमें नहीं रहा। अतः धर्म से

मानवहित को तथा मानव सभ्यता को और आगे बढ़ाने की अपेक्षा नहीं की जा सकती। ऐसी विकट परिस्थिति में जब मानव विज्ञान और धर्म दोनों से निराश हो चुका है, तब वह कहाँ जाय, किसका आश्रय ले? पर वह इन दोनों को छोड़ भी नहीं सकता, इनके बिना रह भी नहीं सकता। मानव जीवन के लिए विज्ञान और धर्म दोनों ही आवश्यक हैं: पहला मानव के भौतिक, आर्थिक, सामाजिक और बौद्धिक विकास के लिए और दूसरा उसके नैतिक, मानवीय और आध्यात्मिक विकास के लिए। ऐसी संकटपूर्ण स्थिति में हमारा तीसरा प्रश्न सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। कैसे विज्ञान और धर्म को मानव नियंत्रण में ला कर उन्हें परिवर्तित किया जाय ताकि वे मानव के त्रास का कारक न होकर मानवहित के उन्नयन में सहायक बनें?

मानव जीवन से जुड़े ऐसे 'बड़े' प्रश्न, जिनमें सुदीर्घ काल से संस्थापित व्यवस्थाओं और शक्तियों पर परिवर्तन के लिए दबाव बनाने का भाव हो, आज हमारे वैचारिक जगत् में कम उठाए जाते हैं। इसका एक कारण तो यह है कि ऐसे कठिन प्रश्नों का उत्तर देना, उनका अन्वेषण करना, अत्यंत जटिल होता है। ओर दूसरा यह कि हमने मानव ज्ञान को छोटे-छोटे दायरों में बांट रखा है। अतः ऐसे बड़े प्रश्न, जो मानव जीवन की समग्रता से संबंध रखते हैं, उन्हें उठाना कोई अपना दायित्व नहीं मानता। जो सबका है, वह अंततः किसी का नहीं होता। शायद हम विज्ञान और धर्म जैसी बड़ी और रूढ़ ताकतों को चुनौती देने का साहस भी नहीं जुटा पाते। पर जब मानवहित, मानव स्वातंत्र्य और मानव प्रतिष्ठा जैसे आधारभूत मानव मूल्यों पर आंच आती हो तो हमें निःसंकोच ऐसे प्रश्न उठाने चाहिए। विज्ञान और धर्म दोनों मानवीय संकल्पनाएं हैं। उनका विकास मानव की बौद्धिक ओर सर्जनात्मक

प्रतिभाओं के कारण संभव हुआ है। उनका अस्तित्व और महत्त्व मानव की स्वीकृति और श्रद्धा पर निर्भर करता है। अतः मानवहित एवं मानव मूल्यों की दृष्टि से विज्ञान और धर्म का गुण-दोष विवेचन करना और इसके आधार पर उन्हें नई दिशा देना मानव का अधिकार भी है और दायित्व भी। इस भाव से हम विचार करेंगे कि विज्ञान और धर्म को कैसा होना चाहिए? यहाँ हम अपने विचार-क्षेत्र को विज्ञान और धर्म की कुछ मूल मान्यताओं तक ही सीमित रखेंगे।

विज्ञान और वैज्ञानिकों की एक मूल मान्यता है कि उनके अनुसंधान का सर्वोच्च लक्ष्य है प्राकृतिक घटनाओं और व्यवस्थाओं को संचालित करने वाले नियमों की खोज करना। उनका यह भी मानना है कि यह खोज और इस खोज से प्राप्त 'ज्ञान' दोनों अपने आप में मूल्यवान हैं। अतः वे वैज्ञानिक सत्यानुसंधान को एक महान और पवित्र कर्तव्य के रूप में देखते हैं। पर इस सत्यानुसंधान में मानव कल्याण की भावना का कोई स्थान नहीं होता, कम से कम प्रत्यक्ष रूप से। यदि विज्ञान द्वारा उद्घाटित 'सत्य' से मानव का कुछ लाभ हो जाता है, तो वह इस प्रक्रिया का एक गौण-उत्पाद है। ऐसा लाभ दिलाना वैज्ञानिक खोज का ध्येय नहीं होता। इसीलिए यदि वैज्ञानिक 'सत्य' से मानव का अहित होता हो, यहाँ तक कि मानव जीवन और प्राणिमात्र का अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाता हो, तो भी विज्ञान इसे अपना दोष नहीं मानता। पर ऐसी निर्वैयक्तिक, भावनाशून्य, तटस्थता और मूल्य-निरपेक्षता, नैतिक-मानवीय दृष्टि में दायित्व-हीनता का पर्याय मानी जाएगी। विज्ञान के नकारात्मक पक्ष, जिनकी चर्चा हमने पहले की है, इस मूल्य-निरपेक्षता एवं दायित्व-हीनताके कारण ही आज फल-फूल रहे हैं।

उपर्युक्त का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि हमारे वैज्ञानिक व्यक्तिगत स्तर पर बुरे या मानव विरोधी व्यक्ति हैं। उनकी गिनती तो समाज के सबसे प्रबुद्ध, चिंतनशील और समर्पित जनों में होती है। अपनी नैतिक और मानवीय संवेदनशीलता में वे किसी अन्य वर्ग से पीछे नहीं हैं। पर कठिनाई यह है कि वे अपनी व्यक्तिगत स्तर पर स्वीकृत सामान्य मूल्य-मर्यादाओं को अपने वृत्तिक क्षेत्र से बाहर रखते हैं। एक वैज्ञानिक ने दुखी पर दृढ़ स्वरो में स्वीकार किया है कि, 'प्रयोगशाला में घुसने से पहले मैं अपनी नैतिक एवं मानवीय मूल्यों की कोट, बाहर की खूँटी पर टांग देता हूँ'। नैतिक एवं मानवीय मूल्यों तथा विज्ञान के बीच विभाजन की इस वैचारिक बाधा-रेखा को तोड़ना होगा। और तब विज्ञान के वैचारिक विश्व में मानवहित से जुड़े प्रश्नों पर भी चिन्तन होगा — जैसे वैज्ञानिक शोध से निकले ज्ञान का मानव जीवन और समाज पर क्या प्रभाव पड़ेगा? उसके दुष्प्रभावों को कैसे रोका जाय? मानवहित की दृष्टि से शोध के किन क्षेत्रों को प्राथमिकता दी जाय? विज्ञान और वैज्ञानिकों के क्या सामाजिक, नैतिक और मानवीय दायित्व हैं? और तब वैज्ञानिक शायद इस 'मूल्य सत्य' को स्वीकार कर सकें कि एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में विज्ञान का सत्यानुसंधान से भी उच्चतर लक्ष्य है, मानव और समाज के हित के लिए काम करना। अतः विज्ञान के सभी कार्यकलाप नैतिक एवं मानवीय मूल्यों की परिधि में ही निष्पादित होने चाहिए। वैज्ञानिकों की वृत्तिक-चेतना में उनके सामाजिक, नैतिक एवं मानवीय मूल्यों के प्रति यह दायित्व-बोध कैसे स्थापित किया जाय, इस प्रश्न पर गहन चिंतन की आवश्यकता है।

विज्ञान की ही भांति सभी धर्मों की भी यह आधारभूत मान्यता है कि उनके द्वारा प्रतिपादित

आस्था — विश्वास के केन्द्र एवं उनसे जुड़ी अन्य धार्मिक अवधारणएं परम सत्य हैं। और ये सत्य ही सर्वोच्च जीवन मूल्य भी हैं। वे सभी के लिए, सभी काल के लिए, सभी परिस्थितियों के लिए सत्य हैं। अतः इन्हें न मानने का कोई प्रश्न ही नहीं है। जो ऐसा नहीं मानते वे अज्ञानी हैं, अंधकार में हैं, अहंकारी हैं, हठी हैं या दुष्ट। कई व्यवस्थित और शक्तिशाली धर्म अपनी मान्यताओं को किसी प्रकार से मनवा लेना—सदाग्रह से, दुराग्रह से, परलोक सुधार का आश्वासन देकर, या अन्य प्रकार के भौतिक, अभौतिक प्रलोभन देकर अथवा भय दिखा कर, अपना बड़ा 'धर्म' समझते हैं। इसीलिए प्रायः सभी धर्म अपने अपने 'सत्य' के प्रभुत्व को लेकर आपस में लड़ते-झगड़ते रहे हैं। इन अंतर-धार्मिक विवादों के त्रास से तथा धर्म के अन्य मानव विरोधी कष्टों से मानव को बचाने का एक मार्ग यह है कि धर्म और धार्मिक मान्यताओं को पूरी तरह से खारिज कर दिया जाय। यूरोप में ऐसी भावना तेजी से बढ़ी है। उत्तरी यूरोप के कुछ देशों में बहुसंख्यक लोगों का कहना है कि वे ईश्वर में विश्वास नहीं करते और धार्मिक नहीं हैं। अन्य देश में भी ईश्वर और धर्म के प्रति प्रबुद्धजनों की आस्था घटती जा रही है। निरीश्वरवादी होने का या धर्म के प्रति उदासीन होने का यह तात्पर्य नहीं है कि ऐसे लोगों ने नैतिक और मानवीय मूल्यों को भी त्याग दिया है, या वे भोगवादी हो गए हैं। इसके सर्वथा विपरीत, उनका मानना है कि इन मूल्यों की स्वीकारोक्ति के लिए, और इनके अनुरूप मूल्यनिष्ठ जीवन जीने के लिए, धार्मिक मान्यताओं को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। कुछ का तो यह भी मानना है कि मूल्यनिष्ठ जीवन जीने में, एक बेहतर इंसान बनने में, धार्मिक मान्यताएं और उनसे अनुमोदित सामाजिक रूढ़ियाँ, कुरीतियाँ, कर्मकांड के आडंबर,

ऊँच-नीच की भावनाएं एवं अन्य हानिकारक पूर्वाग्रह ही सबसे बड़ी बाधा हैं।

पर धार्मिक आस्था मानव की एक आत्मिक और भावनात्मक आवश्यकता है। अपने धर्म—प्रधान एवं भावना—प्रधान देश में यह आवश्यकता और बलवती है। हम चाहते हैं किसी उच्चतर शक्ति के आगे समर्पण करना, उससे अंतरंग संबंध स्थापित करना, निःसंकोच उससे अपना दुःख—दर्द कहना, उसका सहारा मांगना, निर्देश मांगना, उससे प्रेम करना, प्रेरणा लेना। निराशा भरे क्षणों में यह आस्था केन्द्र ही हमारा सबसे बड़ा संबल होता है। हमारे देश के बहुसंख्यक सामान्यजन इसी संबल के सहारे अपनी अभावपूर्ण और कष्टमय जीवन यात्रा पूरी कर पाते हैं। विज्ञान और आधुनिकता के नाम पर उनसे धर्म और आस्था का यह सहारा भी खींच लेना, अमानवीयता होगी। अतः आधुनिक बौद्धिक—तार्किक विवेचना के क्षेत्र में हमें धार्मिक आस्था का अवमूल्यन करने की, और उससे भी बुरी—उपहास करने की, प्रवृत्ति से बचना चाहिए। इतना ही नहीं, धार्मिक आस्था हमारे व्यक्तिगत मानवीय स्वातंत्र्य का अंग है। अतः उस पर उंगली उठाने का अधिकार किसी को नहीं है। उल्टे अन्य सभी से यह अपेक्षित है कि वे आस्था का और उसमें विश्वास रखने वाले लोगों के स्वातंत्र्य का सम्मान करेंगे। पर यह सम्मान प्राप्त करने की कुछ शर्तें हैं। हमारे व्यक्तिगत आस्था—विश्वास की सामाजिक अभिव्यक्ति ऐसी नहीं होनी चाहिए जिससे दूसरों को अपने अलग तरीके से जीवन जीने के अधिकार में कोई बाधा पहुँचे। धर्म द्वारा स्थापित पारंपरिक नियम—कानून और सामाजिक व्यवस्थाओं को संवैधानिक न्याय व्यवस्था के ऊपर नहीं रखा जा सकता। यही नहीं, मानव के व्यक्तिगत एवं सामुदायिक जीवन को प्रभावित करने वाली ऐसी

सभी धार्मिक व्यवस्थाओं की नैतिक और मानवीय मूल्यों की दृष्टि से समालोचना होनी चाहिए, और उन्हें यथानुरूप परिवर्तित करने के लिए दबाव बनाया जाना चाहिए। धार्मिक सहिष्णुता अथवा सर्वधर्म समभाव के नाम पर ऐसा न करना नैतिक कायरता होगी।

धर्मों के बीच हिंसात्मक संघर्ष मानव सभ्यता के इतिहास का एक बड़ा कलंक रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि सभी धर्म अपने आप को सर्वश्रेष्ठ या एकमेव सत्य मानते हैं। इस दंभ के कारण वे अन्य धर्मों को हेय दृष्टि से देखते हैं। ऐसा दृष्टिकोण उनके कुछ अनुयायियों की व्यक्तिगत अहंमन्यता भर नहीं है। कई धर्मों में सैद्धान्तिक रूप से भी यही स्वीकृत और स्थापित विचार है। इस समूहगत अहंमन्यता के चलते सर्वधर्म समभाव एवं सहअस्तित्व की उदार भावनाएं व्यवहार में साकार नहीं हो पाएंगी। अतः मानव की ओर से, मानवता की ओर से, तथा मानवमूल्यों की ओर से धर्मों से यह आग्रह करना होगा कि वे अपने इस अनन्य श्रेष्ठता के भाव को त्याग दें, तथा एक दूसरे का आदर करते हुए, प्रेम भाव से मिलजुल कर मानव कल्याण के लिए काम करें। वैज्ञानिकों के साथ-साथ धार्मिक संगठनों एवं धर्मगुरुओं पर भी इस स्वीकारोक्ति के लिए दबाव बनाना होगा कि उनका सर्वोच्च लक्ष्य मानवहित एवं समाजहित के लिए काम करना है, केवल किसी अमूर्त 'सत्य' का उद्घाटन करना या अपने धर्म का संरक्षण, प्रचार-प्रसार और उसका प्रभुत्व स्थापित करना नहीं। अतः सर्वजनीन नैतिक एवं मानवीय मूल्य-मर्यादाओं के अनुपालन को, आस्था-विश्वास जनित 'धार्मिक' आदेशों से अधिक महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, जीवन मूल्यों एवं मानव मूल्यों से बनी मानव की मानवीय पहचान को

संकीर्ण धार्मिक पहचान के ऊपर रखना होगा। यदि धर्म मानव मूल्यों के इस नियंत्रण को नहीं स्वीकार करते हैं तो भावी मानव संस्कृति उनकी उपेक्षा करके आगे बढ़ जाएगी, और संभवतः धर्म को इतिहास के नकारे हुए विचारों के कूड़ेदान में फेंक देगी।

उपर्युक्त विमर्श से यह निष्कर्ष निकलता है कि विज्ञान और धर्म दोनों को स्वायत्त एवं पूजनीय मानकर मानव पर नियंत्रण करने के लिए स्वतंत्र नहीं छोड़ा जा सकता। उनके लक्ष्यों, मान्यताओं एवं उनके समस्त कार्य कलापों को व्यापक मानवहित एवं समाजहित की कसौटी पर कसना होगा। साथ ही उन पर यह दबाव बनाना होगा कि वे अपने मानव विरोधी कार्यों से विरत होकर समस्त मानवता के कल्याण के लिए काम करने को अपना अनिवार्य दायित्व मानें। इसके लिए नैतिक एवं मानवीय मूल्य चिंतन की धारा को इतना सशक्त बनाना होगा कि वह विज्ञान, धर्म तथा अन्य सभी सामाजिक शक्तियों को अपने नियंत्रण में कर सके। मानव मूल्यों की इस नयी शक्ति को प्रभावशाली बनाये बिना मानव सभ्यता पर, तथा मानव सहित प्रणिमात्र के अस्तित्व पर मंडराते खतरों से नहीं निबटा जा सकता है। ●

“मनुष्य के पशुत्व को ईश्वरत्व में परिणत करना ही धर्म है। मनुष्यत्व का विकास ही ईश्वरत्व और ईश्वर है; मैं मनुष्यता का पूजक हूँ, मनुष्यत्व के आगे जात-पांत नहीं मानता।”

—पं० मदनमोहन मालवीय

नवमानववाद : भौतिकवादी धरातल पर सुसंगत नीति की तलाश

डॉ० आनन्द मिश्र

एम० एन० राय (१८८७ - १९५४) बीसवीं सदी के सर्वाधिक महत्वपूर्ण क्रान्तिकारियों में से एक हैं। राय ने न केवल विभिन्न क्रान्तियों में भाग लिया अथवा उसका नेतृत्व किया अपितु उसके दार्शनिक आधार को निरन्तर अपने साहित्य के माध्यम से सुव्याख्यायित करने का प्रयास किया। राय की सम्पूर्ण जीवन यात्रा और उनके वैचारिक विकास यात्रा में एक चीज जो सर्वाधिक प्रेरक रही और जो हमेशा केन्द्र में रही वह है स्वतन्त्रता। देखा जाए तो उनकी सारी क्रान्ति, उनका सारा विद्रोह व्यक्ति की इस 'स्वतन्त्रता' को लेकर ही था। चौदह वर्ष की उम्र में वे जब भूमिगत राष्ट्रवादी आंदोलन से जुड़े थे तब उनका लक्ष्य स्पष्ट था व्यक्ति को उसकी राजनीतिक दासता से 'मुक्ति' प्रदान करना। फिर जब वे मार्क्सवादी प्रभाव में साम्यवादी आंदोलन से जुड़े तब भी उनका लक्ष्य रहा व्यक्ति की स्वाभाविक स्वतन्त्रता एवं सृजनात्मकता में बाधक बने पूँजीवादी एवं साम्राज्यवादी शोषण से उसे मुक्त करना, और अन्ततः जब उन्होंने पाया कि सामाजिक एवं सामूहिक हित के नाम पर 'व्यक्ति' की बलि नहीं दी जा सकती तो वह साम्यवाद से आगे बढ़कर व्यक्ति की स्वतन्त्रता को स्वयं परम लक्ष्य मानकर विकसित होने वाली नवीन मानववादी दर्शन की ओर उन्मुख हुए। इस तरह राय की चिन्ता एवं चिन्तन का विषय 'व्यक्ति और उसकी स्वतन्त्रता' आरंभ से अन्त तक बना रहा।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि मानवेन्द्र नाथ

राय की ही तरह बीसवीं सदी में एक और दार्शनिक हुआ है जो राय की ही तरह विभिन्न जनान्दोलनों से निकटता से जुड़ा रहा है और जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को ही अपने दर्शन का आधार बनाता है। ज्यों पाल सार्त्र भी मार्क्सवाद को एक मात्र युग का दर्शन बताते हैं और अस्तित्ववाद आदि को उसको पुष्ट करने वाली विचार धारा। राय और सार्त्र की तुलना इसलिए भी प्रासंगिक हो जाती है क्योंकि दोनों ही दार्शनिक ठीक एक समय ही मानववादी दर्शन को लेकर आते हैं। सार्त्र अपने प्रसिद्ध अक्टूबर १९४५ के व्याख्यान में अस्तित्ववाद को मानववादी दर्शन बताते हैं और उसे निरीश्वरवादी दर्शन के अनिवार्य नैतिक उपागम के रूप में प्रस्तुत करते हैं। राय भी १९४६ से रैडिकल ह्यूमनिज्म के साथ प्रस्तुत होते हैं। वस्तुतः राय तथा सार्त्र दोनों के सामने मुख्य समस्या यह है कि अनीश्वरवादी व व्यष्टिवादी दर्शन की अनिवार्य परिणति नैतिक अराजकता में होने से कैसे बचाया जाए। हम आगामी पृष्ठों में इस बात को देखने का प्रयास करेंगे कि कैसे मानवेन्द्र नाथ भौतिकवादी या अनीश्वरवादी दर्शन में एक सुसंगत नैतिक दर्शन की उपपत्ति करने में सक्षम होते हैं।

जैसा कि पीछे इंगित किया गया कि राय विचारेण भौतिकवादी और अनीश्वरवादी दार्शनिक हैं, उनका यह भौतिकवाद अनुभाविक प्रत्यक्षवाद से पोषित है। राय अपने भौतिकवाद को पूर्वी एवं पश्चिमी दर्शन की सुदीर्घ परम्परा से पोषित पाते हैं। भौतिकवाद अत्यानुभाविक

सत्ता के नकार पर आधारित होता है। राय इस तरह की किसी सत्ता को न केवल नकारते हैं बल्कि उसे तर्क एवं विज्ञान का प्रतिगामी तथा मानवीय प्रगति के निरोधक के रूप में देखते हैं। कोई अतिप्राकृतिक दैवी सत्ता नहीं है और न ही कोई अतिप्राकृतिक दैवी शाश्वत मूल्य हैं। मनुष्य ही सभी चीजों का मापदण्ड है।

अब इस तरह के भौतिकवादी और व्यष्टिवादी भौतिकवादी दर्शन की अपनी ही कठिनाइयाँ हैं। जो मुख्य समस्या आती है कि भौतिकवादी दर्शन में मूल्यों की, नैतिकता की व्याख्या हो नहीं पाती है। यदि कोई अतिप्राकृतिक सत्ता नहीं है, यदि कोई दैवी सत्ता नहीं है तो फिर मूल्यों का कोई अतिप्राकृतिक या दैवी आधार सुरक्षित नहीं रह जाता। निरपेक्ष या शाश्वत मूल्यों की व्यवस्था नहीं बन पाती। यहाँ यह कहा जा सकता है कि मूल्यों की निरपेक्षता की हमारी माँग व्यर्थ ही है। मूल्य व्यक्तिसापेक्ष, समूहसापेक्ष और कालसापेक्ष हों तो उसमें क्या हानि? प्रोटागोरस जैसे सोफिस्ट और दूसरे लोग ऐसा ही कहना चाहते हैं तथा स्वयं राय भी इससे सहमत हैं। पर ऐसी सहमति के बावजूद राय नैतिकता के क्षेत्र में सापेक्षता को नहीं स्वीकार करना चाहते हैं। उनका कहना है कि अगर हमने नैतिकता के क्षेत्र में सापेक्षता को स्वीकार किया तब तो हम नैतिक शून्यता के गड्ढे में गिरने लगेंगे। नैतिकता के क्षेत्र में अनिश्चय की कोई बात नहीं होनी चाहिए। अस्तु राय के सामने अत्यन्त विरोधी लक्ष्य है मूल्यों को मानव निर्मित मानते हुए भी उसे सापेक्ष न मानना। वस्तुतः राय के सामने प्रमुख दार्शनिक समस्या यह है कि भौतिकवादी दर्शन को स्वीकार करने के बावजूद उसके भौतिकवादी

और नैतिक अराजकतावादी तार्किक उपागमों से कैसे बचा जाए। मूल मानवीय स्वतन्त्रता का दर्शन प्रस्तुत करने के बावजूद कैसे इस स्वतन्त्रता के दर्शन को स्वेच्छाचारिता के दर्शन में परिणत होने से रोका जाए। व्यष्टि की स्वतन्त्रता पर आधारित दर्शन को कैसे मानववादी स्वरूप दिया जाए।

क्या अनीश्वरवादी और भौतिकवादी दर्शन में निरपेक्ष मूल्यों की कोई संभावना वास्तव में बन पाती है? क्या अतिप्राकृतिक सत्ता एवं उसके आधार के बिना मूल्यों की निरपेक्षता की व्याख्या हो सकती है? क्या बिना धर्म के आधार पर नीति संभव है? क्या ईश्वर, ईश्वरीय सत्ता, धर्म, अध्यात्म के अभाव में नैतिकता का निगमन हो सकता है? इस प्रश्न का कोई उत्तर देने से पहले यहाँ यह जानना अपेक्षित होगा कि स्वयं काण्ट के सामने उसकी रचनाओं *Groundwork of the Metaphysics of Morals* (१७८५) और *Critique of Practical Reason* (१७८८) में यही समस्या थी कि बिना धर्म के नीति कैसे संभव है और इन दोनों रचनाओं का प्रयोजन ही वस्तुतः एक धर्मनिरपेक्ष नीति की खोज, एवं उसका निगमन रहा है। मानवेन्द्र नाथ राय काण्ट के समान ही नैतिकता का निगमन मनुष्य के विवेकशील स्वभाव से करते हैं। राय के अनुसार मनुष्य विवेकशील होने के कारण स्वभाव से नैतिक है। लगभग काण्ट के स्वर में राय भी कहते हैं कि विवेकशील व्यक्ति यह सोच सकता है कि जो बात मुझे अच्छी लगती है या बुरी लगती है वह मुझ जैसे सभी व्यक्तियों को अच्छी लगती या बुरी लगती होगी और तदनुसार मुझे औरों के साथ व्यवहार करना चाहिए। यहीं नैतिकता का आरम्भ है। विवेकशील व्यक्ति

यही सोचेगा कि दूसरे व्यक्ति भी मेरे जैसे ही हैं, अतः मैं जिस व्यवहार का अधिकारी हूँ दूसरा भी मेरे द्वारा वैसे ही व्यवहार का हकदार है। इस प्रकार हम देखते हैं कि राय नैतिकता तथा नैतिक मूल्यों को मानव में विद्यमान विवेकशीलता पर आधारित करते हैं। नैतिकता का यह आधार प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान होने से संभव हो जाता है। इस प्रकार राय प्रोटागोरस के सिद्धान्त को मानने के बावजूद नैतिक सापेक्षतावाद से बच निकलते हैं। मूल्य व्यक्ति द्वारा निर्मित होने के बावजूद शाश्वत व निरपेक्ष हो सकता है क्योंकि यह मनुष्य की विवेकशीलता पर आधारित होता है। वस्तुतः बुद्धि के कार्य करने का ढंग ही ऐसा होता है कि वह तार्किक संगति को लिये रहती है। अब कोई चीज मेरे लिये तो मूल्य है परन्तु अन्यो के लिये नहीं, मेरे लिये तो नैतिक है पर अन्यो के लिए नहीं, इस प्रकार का चिन्तन एवं व्यवहार तार्किक संगति के नियम का उल्लंघन करता है। राय 'स्वतन्त्रता' को सर्वोच्च मूल्य मानते हैं। अब मैं अपनी स्वतन्त्रता को सुसंगत रूप से तभी 'मूल्य' मान सकता हूँ और उसकी रक्षा के अधिकार के लिये तभी अर्ह हो सकता हूँ जब मैं अन्यो की स्वतन्त्रता को भी समान रूप से 'मूल्य' समझूँ तथा उस स्वतन्त्रता की सुरक्षा के उनके नैतिक अर्हता को स्वीकार करूँ।

यदि राय स्वतन्त्रता को सर्वोच्च नैतिक मूल्य मानते हैं तो साथ में जुड़ी उत्तरदायित्व या जवाबदेही की भावना के द्वारा नैतिक बाध्यता के भाव की व्याख्या करने में सक्षम होते हैं। हम अपने व्यवहार के लिये किसी परासत्ता या ईश्वर के प्रति जवाबदेह नहीं होते हैं। पर इससे हमारी जवाबदेही समाप्त नहीं हो जाती। परिवार, मित्र,

कार्यस्थल, क्लब, राज्य या समाज अब भी हमारी जवाबदेही के लिये मौजूद होता है और हमे अपने कर्मों के लिये उनको उनका औचित्य प्रस्तुत करना होगा। और कदाचित् यहाँ भी विरोध हो तो फिर हमारी अन्तरात्मा। वस्तुतः असली जवाब तो स्वयं हमें अपने को देना होगा। और यही तो मानव-अस्तित्व की विशेषता है। मनुष्य की विवेकशीलता नैतिकता को अन्तर्निहित किये रहती है। इसी कारण मनुष्य न केवल विवेकशील प्राणी है अपितु नैतिक प्राणी भी है। नैतिकता के स्रोत को व्यक्ति के बाहर ढूँढने की कोई जरूरत नहीं है। मनुष्य प्राकृतिक विकास के इस स्तर पर होता है कि यह स्वयं उसके भीतर से प्रस्फुटित होता है। इसी नैतिक व्यक्ति के अभ्युदय में बाधक स्थितियों के निरास को ही राय आध्यात्मिक मुक्ति बताते हैं। और ऐसे ही नैतिक व्यक्तियों पर राय के नव-मानववाद की सफलता निर्भर करती है। ●

“वित्त-व्यवस्था केवल अंकगणित नहीं है, वह एक बड़ी नीति है। निर्दोष वित्त-व्यवस्था, बिना निर्दोष शासन के संभव नहीं”

“कौशलपूर्ण व्यय, लाभयुक्त और न्यायसंगत कर तथा आय और व्यय का पूर्ण सामंजस्य तभी संभव है, जब विवेकशील तथा परिश्रमी जनसमुदाय उस पर अपने विचारों का शासन न करें।”

— पं० मदनमोहन मालवीय

हम अच्छे क्यों बनें

राकेश कुमार मित्तल

आज मनुष्य का जीवन इतना उलझ गया है कि हमें जीवन के मूल उद्देश्य का ही ज्ञान नहीं रहा। इस उलझन में हम यह भी समझ बैठे हैं कि अच्छे बने रहने से जीवन में कोई लाभ नहीं है और अच्छे लोग साधारणतः जीवन में असफल व दुःखी रहते हैं। मुझे इस विषय पर सोचने की प्रेरणा वर्ष १९८० में हुई। उस समय मैं मेरठ में सचिव, विकास प्राधिकरण के पद पर कार्यरत था। उस पद से स्थानांतरण के बाद मैं एक मित्र के यहाँ विदाई भोज पर आमंत्रित था। वहाँ एक और मित्र भी मिले, वे भी मेरे शुभचिंतक थे। अतः भावुकता में बोले—“आपने मेरठ में बड़ी मेहनत एवं ईमानदारी के साथ कार्य किया है, किन्तु ऐसे लोग बाद में प्रायश्चित्त करते हैं।” यह सुनकर मैं स्तब्ध रह गया और समझ में नहीं आया कि क्या उत्तर दूँ। कदाचित् उत्तर देने में सक्षम ही नहीं था। वैसे भी, इस विषय में मैंने कभी सोचा ही नहीं था। जो कुछ उन्होंने कहा था, वह शायद आम धारणा है और इसके लिए उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। उस समय तो मुझे केवल यही उत्तर बना कि ईमानदार होकर प्रायश्चित्त करने से अच्छा है बेईमान हो जाना।

मुझे इससे संतोष नहीं हुआ और मैं इस बारे में चिंतन करने लगा कि व्यक्ति को अच्छा क्यों होना चाहिए। क्या इसका कोई वैज्ञानिक कारण है? मैं स्वयं विज्ञान का विद्यार्थी रहा हूँ और बिना तर्क के किसी बात को स्वीकार न करने की आदत मेरी भी है, इसलिए मुझे इस बारे में उचित व्याख्या की आवश्यकता थी। इसी खोज के दौरान मुझे कुछ ऐसी आध्यात्मिक पुस्तकें मिलीं, जो वैज्ञानिक ढंग से लिखी गई हैं। वास्तव में धर्म की सही परिभाषा भी

मुझे उन्हीं पुस्तकों से मिली और साथ ही उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर भी। ऐसा नहीं कि प्रत्येक शंका का तुरन्त समाधान हो गया हो, लेकिन मूल उत्तर अवश्य मिला। साथ ही समय के साथ जो शंकायें मन में उठीं, उनका उत्तर भी अनुभव एवं चिंतन से मिला। आज मैं दृढ़ विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि अच्छा होना सौभाग्य की बात है और किसी भी परिस्थिति में यह मजबूरी नहीं मजबूती है। हाँ, इस बात पर विचार अवश्य करना चाहिए कि आज की सामाजिक परिस्थितियों में अच्छे रहते हुए कैसे रहा जाय ताकि लोग हँसी के पात्र न होकर सम्मान के पात्र बनें। इस लेख में इन सभी बातों पर विचार करना है।

सबसे पहले तो यह बात जाननी चाहिए कि “अच्छा” होने का तात्पर्य क्या है। बहुधा यही समझने में त्रुटि होती है। संसार के सभी लोग किसी न किसी धर्म को मानते हैं। आखिर धर्म की आवश्यकता क्यों पड़ी? मनुष्य ने जैसे—जैसे विकास किया व समाज का निर्माण हुआ, वैसे—वैसे उसे जीवन के नियमों की आवश्यकता पड़ी। ये उसे धर्म के रूप में मिले। एक तरह से देखा जाय, तो धर्म जीवन के संविधान के रूप में मनुष्य को मिला। जीवन की परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ—साथ, इस संविधान में भी संशोधन हुए और कई बार नये धर्म के रूप में सामने आये। किन्तु जो मूल बातें हैं, वे सभी धर्मों में समान हैं और उन्हें हम जीवन के मूल सिद्धांत कह सकते हैं। शायद ही कोई ऐसा उदाहरण हो कि इन मूल सिद्धांतों पर किन्हीं दो धर्मों में मतभेद हो। मेरे विचार से जीवन के इन मूल सिद्धांतों का पालन करना ही “अच्छाई” है। इस

प्रकार "अच्छाई" किसी व्यक्ति विशेष का गुण न होकर मानव समाज की आवश्यकता है। यह वह गुण है, जो न केवल समाज को सुचारु रूप से चलाने के लिए आवश्यक है, बल्कि व्यक्ति के स्वयं के सुख के लिए भी आवश्यक है। दुर्भाग्य से इस तथ्य से तो लोगों का विश्वास उठने लगा है, किन्तु इसका कोई विकल्प वे नहीं ढूँढ़ पाये हैं। परिणामतः आज का मनुष्य एक ऐसी असमंजस की स्थिति में है, जहाँ वह यह नहीं जानता कि सुख कैसे प्राप्त किया जाय। जब तक उसे इस बात का अहसास होता है कि सही मार्ग पर चलने में ही सुख है, अधिकांशतः बहुत विलम्ब हो चुका होता है।

"अच्छाई" एवं "सुख" में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए मूल बातों पर विचार करना होगा। यद्यपि इस विषय पर अत्यन्त दार्शनिक दृष्टिकोण से चिंतन किया जा सकता है, लेकिन वर्तमान लेख में केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही चिंतन करने का प्रयास होगा। सबसे पहला प्रश्न तो यही उठता है कि मानव जीवन का लक्ष्य क्या है। इस प्रश्न का सबसे व्यावहारिक उत्तर यही होगा कि "सुख की प्राप्ति" ही मानव जीवन का लक्ष्य है। अगला प्रश्न यह उठता है कि "सुख" क्या है। इस प्रश्न के उत्तर अलग-अलग अवश्य हो सकते हैं और यह व्यक्ति विशेष के बौद्धिक विकास, अनुभव आदि पर निर्भर करेगा कि वह "सुख" की क्या परिभाषा मानता है। अतः इसकी कुछ व्याख्या आवश्यक होगी ताकि परिभाषा में एकरूपता लाई जा सके। मैं यह कहना चाहूँगा कि "सुख" एक प्रकार की मानसिक स्थिति है और "भौतिक सम्पन्नता" एवं "सुख" दोनों में कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं है। किसी भी भौतिक उपलब्धता से सुख प्राप्त होगा, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ, धन सुख का कारण भी हो सकता है

व दुःख का भी, पुत्र सुख का भी कारण हो सकता है व दुःख का भी, पद सुख का भी कारण हो सकता है व दुःख का भी और ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। ऐसे उदाहरण केवल तर्क के लिए ही नहीं, दिन-प्रतिदिन के अनुभव में सर्वथा देखने में आते हैं। अतः इस बात में कोई सन्देह नहीं होना चाहिए कि "सुख" एक प्रकार की "मानसिक स्थिति" है और मनुष्य जीवन का लक्ष्य यह "मानसिक स्थिति" प्राप्त करना है।

अब प्रश्न उठता है कि ऐसी मानसिक स्थिति कैसे प्राप्त की जाय और यदि कोई मार्ग ऐसा है, जिस पर चलकर ऐसी स्थिति प्राप्त हो सके, तो वही मार्ग अपनाना चाहिए। यदि इस तथ्य को एक प्रकार की कसौटी मानकर चलें, तो जीवन की असमंजसता ही समाप्त हो जायेगी। हाँ, इस बात की सावधानी आवश्यक है कि कसौटी पर परखते समय हम पूरी ईमानदारी का परिचय दें और किसी प्रकार की चालाकी न दिखायें। ऐसा करने पर हम स्वयं अपने को धोखा देंगे, किसी और को नहीं। यह बात विश्वास के साथ कही जा सकती है कि कोई भी बात जो "अच्छाई" की परिभाषा में नहीं आती, इस कसौटी पर खरी नहीं उतरेगी। "सुख" वाली "मानसिक स्थिति" में पहुँचने के लिए हमें "अच्छाई" का मार्ग ही अपनाना होगा। इस प्रकार "अच्छा बनने" में हमारा अपना स्वार्थ है और ऐसा करके हम किसी पर अहसान नहीं करते। उदाहरणार्थ, यदि हम किसी से बदले की भावना नहीं रखते, तो इसका सबसे बड़ा लाभ हमें ही मिलता है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। दूसरी ओर यह बात भी निश्चित है कि "बुराई" के मार्ग पर चलने से हम कभी "सुख" वाली "मानसिक स्थिति" में नहीं पहुँच सकते। इसकी पुष्टि भी अनेक उदाहरणों से की जा सकती है।

उपर्युक्त से ऐसा लगता है कि यदि "अच्छाई" के मार्ग पर चलने से "सुख" की प्राप्ति इतनी आसान है, तो सभी लोग अच्छाई के मार्ग पर क्यों नहीं चलते? वास्तव में मानव का मूल स्वभाव यही है, किन्तु किसी भी कार्य को "अच्छाई" या "बुराई" की कसौटी पर परखना इतना आसान नहीं होगा। साधारणतः लोग यही समझते हैं कि वे जो कुछ कर रहे हैं, वही "अच्छा" है और इससे उन्हें "सुख" मिलेगा। कुछ व्यक्ति ही दूर का देख व सोच सकते हैं। अधिकांशतः बुराई का मार्ग आरम्भ में आकर्षक लगता है तथा अच्छाई का मार्ग अनाकर्षक। इसी आकर्षण के फलस्वरूप कमजोर व्यक्ति बहुधा बुराई के मार्ग पर चलने लगते हैं और फिर अपने अहंकार के कारण उस मार्ग पर चलते रहते हैं। अपने मन में त्रुटि का अहसास होते हुए भी वे अपनी त्रुटि नहीं मानते। इतना ही नहीं, जो लोग अच्छाई के मार्ग पर चलने का प्रयास करते हैं, उन्हें वे हतोत्साहित करते हैं तथा अपने काल्पनिक सुख की डींग उनके सामने मारते हैं। इसके कारण ऐसे लोग जो अच्छाई के मार्ग पर चलना चाहते हैं, वे भी असमंजस में पड़ जाते हैं। इस अवस्था में वे या तो अच्छाई के मार्ग पर चलना प्रारम्भ ही नहीं करते, और यदि करते भी हैं, तो कुछ दूर चलकर वह मार्ग छोड़ देते हैं। तब वे भी यह तर्क देने लगते हैं कि अच्छाई के मार्ग पर चलने वाले लोग बाद में प्रायश्चित्त करते हैं। मेरे मित्र द्वारा आरंभ में कही बात शायद ऐसे ही लोगों पर लागू होती है, जो अच्छाई के मार्ग को बीच में ही छोड़ देते हैं। जो लोग अच्छाई के मार्ग की यात्रा पूरी करते हैं, ऐसा सोच भी नहीं सकते।

अन्त में इस बात पर विचार आवश्यक है कि अच्छाई के मार्ग पर चलते हुए इस प्रकार के समाज का सामना कैसे किया जाय, जिसमें हम रह रहे हैं। इसके विषय में प्रसिद्ध दार्शनिक 'पाल

ब्रंटन' (Paul Brunton) की पुस्तक 'द इनर रिअलिटी' का संदर्भ लूँगा। उन्होंने अपनी पुस्तक में बाइबिल की एक पंक्ति का उद्धारण दिया है— "बी ई हार्मलेस लाइक ए डव, बट वाइज़ ऐज ए सरपेन्ट" (Be ye harmless like a dove ; But wise as a serpent)। इस पंक्ति से सम्पूर्ण स्थिति स्पष्ट हो जाती है। आज के इस समाज में जहाँ दूसरों को हानि न पहुँचाना आवश्यक है, वहीं अपनी मूर्खता के कारण दूसरों को हानि पहुँचाने देना भी उचित नहीं है। इतना चिन्तन अवश्य करना चाहिए कि जिसे हम अपनी हानि समझ रहे हैं, वह क्या वास्तव में हानि है और क्या उस हानि का समाज पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। यदि हाँ, तो हमें उस स्थिति का पूर्ण दृढ़ता के साथ विरोध करना चाहिए, और यह सिद्ध करना चाहिए कि "अच्छाई" हमारी "मजबूरी" नहीं मजबूती है। इस प्रकार की दृढ़ता आज के समय में अति आवश्यक है। यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि गलत मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति वास्तव में कमजोर होता है और सामान्यतः हमारी दृढ़ता ही उसको परास्त करने के लिए पर्याप्त होगी, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर धर्मानुकूल संघर्ष के लिए भी तैयार रहना चाहिए। यदि, हमारी अच्छाई यह धारणा स्थापित करे कि हम "मूर्ख" हैं, तो इसके लिए हम स्वयं दोषी हैं और उचित आत्म-निरीक्षण करके हमें इस दोष को समाप्त करना चाहिए।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि यदि जीवन का लक्ष्य प्राप्त करना है, तो अच्छाई के मार्ग पर दृढ़ता के साथ चलने के अलावा कोई विकल्प नहीं है। अल्प अवधि में भले ही लक्ष्य की प्राप्ति होती दिखाई न दे, किन्तु अन्त में लक्ष्य इसी मार्ग पर प्राप्त होता है। यह बात किसी भी वैज्ञानिक सिद्धान्त की तरह सत्य है। ●

जीवन मूल्य, शिक्षा और हम

डॉ० सुनील कुमार सिंह

आदिकाल से ही मानव अपने जीवन के विभिन्न पक्षों को जिज्ञासा की दृष्टि से देखता रहा है। यह जिज्ञासा अनन्त तक इसी प्रकार चलती रहेगी। जिज्ञासा में ही जीवन का सार छुपा है। इसी से गीता जैसे ग्रंथ की रचना हुई। महात्मा बुद्ध, आदि शंकराचार्य, महर्षि दयानन्द सरस्वती, कबीर, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गाँधी, ए० पी० जे० अब्दुल कलाम आदि सभी ने अपनी उपलब्धियों हेतु जिज्ञासा का ही सदुपयोग किया। यह भी मानवीय जिज्ञासा से उपजा प्रश्न ही है कि "जीवन क्या है?" इसका सीधा एवं सरल उत्तर यह हो सकता है कि मानव शरीर के रूप में प्राप्त जीवन प्रकृति का एक सुन्दर उपहार है। प्रकृति के विभिन्न अवयवों द्वारा गढ़ी गयी एक अनूठी रचना है जिसे रचना (सृजन) एवं पोषण की विशिष्ट शक्ति प्राप्त है। यह जिज्ञासा का दूसरा प्रश्न हो सकता है कि उस विशिष्ट शक्ति का केन्द्र कहाँ स्थित है? निःसंकोच यह केन्द्र उस मनुष्य रूपी काया के अंदर स्थित है। यह उसकी 'जीवनी शक्ति' अथवा 'प्राण शक्ति' के रूप में विद्यमान है। इसी के द्वारा हमारे शरीर, मन, इन्द्रियों एवं हृदय को निरन्तर शक्ति प्राप्त होती रहती है। यदि सरलतम रूप में कहा जाय तो हमारे शरीर, इन्द्रियों, मन, हृदय एवं मस्तिष्क को सतत ऊर्जावान बनाये रखने का कार्य प्राण ही करता है। आधुनिक विज्ञान द्वारा भी यह पूर्ण रूपेण स्वीकार्य है। अतः प्राण ही जीवन का आधार है। इसे सुरक्षित एवं संतुलित रखना हमारा प्रथम पुनीत कर्तव्य है। प्राण के साथ ही उचित रूप में शारीरिक विकास हेतु अन्न एवं जल भी आवश्यक है। शरीर पोषण में इसकी भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। अतः जीवन गठन में प्राण, अन्न एवं जल प्राथमिक महत्त्व रखते हैं

इन्हें शुद्ध रूप में अर्जित करना हमारा दूसरा पुनीत कर्तव्य है।

इनके अतिरिक्त मनुष्य एक व्यक्ति के रूप में समाज में जीवन यापन करता है। उसे दूसरे मनुष्यों के साहचर्य में जीवन यापन करने की सामाजिक बाध्यता तो है ही, साथ ही प्राकृतिक नियमों के अनुरूप संतति विकास के कर्तव्य का निर्वहन भी करने की आवश्यकता है। अतः संतति विकास उसका तृतीय कर्तव्य है एवं अपनी रचना शक्ति व पोषण शक्ति का उपयोग कर सामाजिक विकास करना उसका चतुर्थ कर्तव्य है। यहाँ सामाजिक विकास से हमारा अभिप्राय सामाजिक नियम, सामाजिक उद्देश्य, सामाजिक नियंत्रण, शिक्षा, स्वास्थ्य, आवागमन के समस्त साधन, सुरक्षा, ऊर्जा स्रोतों के विकास एवं इस प्रकार के अन्य साधनों के विकास से है।

उपर्युक्त से परे संसार में मनुष्य जाति के अतिरिक्त भी जीव हैं। इन जीवों के सहयोग बिना जीवन की प्राथमिक अथवा द्वितीयक आवश्यकताओं की पूर्ति संभव नहीं है। अतः इन जीवों की सुरक्षा का दायित्व भी हमारा ही है। यह हमारा पंचम कर्तव्य है।

अतः उपर्युक्त पंच कर्तव्यों के निर्वहन द्वारा हम मानवीय जीवन यापन संतुलित रूप में कर सकते हैं। अभी तक हमने जीवन के विषय में संक्षिप्त चर्चा की है। अब हम 'मूल्य' पर विचार करें। 'मूल्य' का सरलतम अभिप्राय है 'प्राथमिकता'। व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय एवं मानवता संबंधित प्राथमिकता। यदि यह एक दूसरे से परस्पर जुड़ी रहेंगी तो व्यक्तिगत खुशहाली एवं सामाजिक सौहार्द को जन्म देगी अन्यथा विकृति

एवं बिखराव को। परन्तु इन प्राथमिकताओं का चयनकर्ता कौन होगा? कौन चयनकर्ता होगा और कौन कर्ता होगा? आपको स्वयं ही चयनकर्ता एवं स्वयं ही कर्ता की भूमिका का निर्वहन करने में अपने को प्रवीण बनाना होगा। यह निर्माण की एक लम्बी प्रक्रिया है, अनवरत उड़ान है। राह तो “करने और बनने” का एक निश्चित क्रम है। “गिरने और बढ़ने” का एक सतत् प्रयास है। जीवन के कर्तव्यों को प्राथमिकताओं की कसौटी में कसने की प्रक्रिया में हमें एक व्यक्ति के रूप में कभी माता, कभी पिता, कभी पत्नी, कभी पति, कभी शिक्षक/शिक्षिका, कभी स्त्री, कभी पुरुष, कभी मालिक, कभी नौकर, कभी निर्बल, कभी बलवान, कभी अमीर, कभी गरीब, कभी बेरोजगार, कभी नौकरी प्राप्त, कभी गुरु, कभी शिष्य इस प्रकार विभिन्न स्थानों में एवं विभिन्न रूपों में निर्णय लेने का अवसर प्राप्त होता है। परन्तु निर्विवाद रूप से इन सभी परिस्थितियों में निर्णयकर्ता एक व्यक्ति ही होता है। व्यक्ति के रूप में वह प्राथमिकता को अवश्य प्रभावित करता है। अतः जीवन मूल्यों (जीवन की प्राथमिकताओं) के निर्धारण में हम अपने अनूठे व्यक्तित्व के माध्यम से निर्णय को प्रभावित करते हैं। इसलिए यहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व के गठन की प्रक्रिया सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस प्रक्रिया को हम “शिक्षा” कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में हमारे जीवन मूल्यों के निर्धारण में शिक्षा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

शिक्षा का तात्पर्य है “सीखना”, “व्यवहार में उतारना”। यह ‘व्यक्तित्व गठन’ की प्रक्रिया है। इसके द्वारा मनुष्य बनता है। माता, पिता, दादा, दादी, शिक्षक/गुरु आदि लोग इस प्रक्रिया में विभिन्न चरणों में योगदान देते हैं। अतः घर/परिवार में, विद्यालय में, पार्क में, चौराहें पर, चाय की दुकान पर, रेडियो द्वारा, समाचार पत्र द्वारा, टेलीविजन

द्वारा एवं अन्य विभिन्न माध्यमों से हम सीखते हैं एवं विभिन्न चीजों को ग्रहण कर व्यवहार में उतारते हैं। परन्तु यहाँ सीखने वाला कौन है? किसके व्यवहार में परिवर्तन हो रहा है? वह तो हम स्वयं हैं। हम क्रमशः परिवर्तन द्वारा श्रेष्ठता की ओर अग्रसर होते हैं। पूर्णता की ओर अग्रसर होते हैं। अपने आवरण को हटाते हुए उत्तरोत्तर आगे बढ़ते जाते हैं। अतः परिवर्तन भी हमारे अन्दर ही होता है एवं परिवर्तन को पहचानने एवं स्वीकार करने वाले भी हम ही होते हैं। इसलिए स्वामी विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, महात्मा गाँधी एवं अन्य अनेक चिंतकों ने शिक्षा को मनुष्य के अन्दर निहित शक्तियों की अभिव्यक्ति कहा है। इस प्रक्रिया में अनुभूति का महत्त्वपूर्ण योगदान है। परिवार, समाज एवं विद्यालय इसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। आधुनिक काल में ‘राज्य’ की भी इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इन सभी के माध्यम से हमें शिक्षा द्वारा व्यक्ति को पंच कर्तव्यों के निर्वहन के लिए तैयार करना पड़ेगा दूसरे शब्दों में, व्यक्तित्व गठन की प्रक्रिया में पंच कर्तव्यों से संबंधित घटनाओं एवं क्रियाओं को सम्मिलित करना पड़ेगा। इसके अनुरूप हमारे स्वयं के निर्माण में/हमारी प्राथमिकताओं में निम्न बिन्दु हो सकते हैं:

१. अपने शरीर को अपने अध्ययन एवं अनुभूति का विषय बनाना चाहिए। इसके लिए हमें सामान्य शरीरिक व्यायाम के नियमों का सहयोग लेकर एक स्वस्थ शरीर विकसित करना चाहिए। सदियों से शोधित योग के नियमों का पालन हमारे विकास में सहायता प्रदान करेगा।
२. अपने अन्दर आत्मबल का विकास करें। हीनता का भाव कदापि विकसित न होने दें।
३. अपने आपको शोषण की वस्तु न बनायें अथवा शोषित न होने दें। ध्यान रहे आपकी प्राथमिकता

कैसे एवं किसके द्वारा तय हो रही है।

४. गलतियों से सीखें उन्हें अपना स्वामी न बनायें। भय का त्याग करें।

५. जीविकोपार्जन हेतु कुशलता विकसित करें।

६. आलोचनात्मक प्रवृत्ति का त्याग करें, उपलब्ध संसाधनों का श्रेष्ठतम उपयोग करें।

७. बाह्य आडम्बर के बजाय आन्तरिक परिवर्तन पर जोर दें।

८. अपनी संस्कृति को पहचानें एवं प्रबल पक्षों को बढ़ायें।

९. अहंकार का त्याग करें।

१०. धैर्य धारण का अभ्यास करें।

११. निराशा के क्षणों में महापुरुषों का स्मरण करें।

१२. किसी के अहित की बात न सोचें।

१३. सत्य के अनुसन्धान से विरत न हों।

१४. सीखने एवं बनने का अवसर न खोयें, जिज्ञासा करें, चिंतन करें एवं सृजन करें।

१५. उपर्युक्त पंच कर्मों के संदर्भ में विचार करें एवं क्रिया करें।

इस प्रकार हम किसी भी परिवेश में रहते हुए उत्तरोत्तर अपना एवं समाज का निर्माण कर सकते हैं। आधुनिक परिवेश में सभा, संवाद एवं सहमति ही इस प्रकार के विचारों के प्रसार का उचित मार्ग है। ●

“राष्ट्र के निवासियों का शरीर ही राष्ट्र है, आत्मा ही राष्ट्र है; शरीर दुर्बल है, आत्मा दुर्बल है, मन दुर्बल है, तब राष्ट्र भी दुर्बल है।”

— पं० मदनमोहन मालवीय

आज का शिक्षक सुषुप्तावस्था में है

शिक्षक सुषुप्तावस्था में है अगर तो केवल इस कारण कि वह वैतनिक है और अपनी वेतनभोगी स्थिति को याद रखता है। तब शिक्षा के प्रति उसमें मजदूरी और बेगार का भाव हो चले तो इसमें अचरज नहीं है। अधिक से अधिक क्लास और पीरियड लेकर वह अपना कर्तव्य पूरा हुआ मान ले सकता है। इस स्थिति को सुषुप्तावस्था नहीं तो क्या कहेंगे, अर्थात् शिक्षक और विद्यार्थी का सम्बन्ध इस हालत में जीवन्त नहीं रह जाता औपचारिक भर रह जाता है। भावात्मक भूमिका दोनों के बीच हो तो आदान-प्रदान सुगम बनता है, कष्टदायी तनिक नहीं होता। उसके अभाव में बालक की स्मृति चेतना पर भार आता है, स्फूर्ति नहीं जागती और सीखने-सिखाने में दोनों ओर कुछ कष्ट और विफलता का अनुभव होता है। पैसा प्रेरण के हेतु में उपस्थित रहे तो फिर शिक्षार्थी बालक मात्र प्रयोजनीय उपलक्ष्य रह जाता है। लक्ष्य कहीं इतर हो रहता है। अधिकांश ऊपरी कमाई या सम्पत्तियों के आयोजन में शिक्षक अपना अधिक लाभ देखने लगता है। इन चीजों से वह समझता है कि वह बनता है जिसे कैरियर कहते हैं। शिक्षक वर्तमान समाज में अपने को इसलिए हीन मानने को विवश है कि पैसे की माप में वह मध्यवर्ती श्रेणी से भी कम है। इस हीनभाव से दूर होना उसके लिए पहले आवश्यक है और इस उद्यम में बालक के प्रति दुर्लक्ष्य हो जाना तो फिर सहज और अनिवार्य ही है। उपाय इसका सिवा इसके क्या है कि उसके मन में कुछ हो जो पैसे से ऊँचा हो और वही निष्ठा उसे चलाये, पर यह उपाय कठिन है इसलिए कि सारे समाज की रचना ही अपरिग्रह के मूल्य से विमुख है। ●

शिक्षा और संस्कृति (पेज ६७-६८से)— जैनेन्द्रकुमार

राष्ट्रीय एकीकरण में शिक्षा की भूमिका

डॉ० गोपाल नायक

जब कोई समाज सर्वशक्तिमान हो जाता है और एक भौगोलिक सीमा के अंदर समस्त व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बांध लेता है तो उसे राष्ट्र की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार राष्ट्र वह सत्ता अथवा शक्ति है जो मनुष्यों को एकता के सूत्र में बांधती है। मनुष्य अपने पारस्परिक जाति-भेद, प्रांत-भेद, व्यक्ति-हित आदि को छोड़कर और सामूहीकरण की भावना से ओत-प्रोत होकर राष्ट्र की सत्ता को स्वीकार करते हैं।

रॉस के शब्दों में राष्ट्रीयता एक मानव विचार या प्रेरणा है जिससे प्रभावित होकर एक देश के रहने वाले आपस में एवं दूसरे से एक राष्ट्र के नागरिक होने के कारण सद्भावना रखते हैं और मिलजुल कर देश की उन्नति, उसकी सुरक्षा एवं कल्याण के लिए सक्रिय रहते हैं। कुछ लोग राष्ट्रीयता एवं देश प्रेम को एक ही अर्थ में लेते हैं जबकि देश प्रेम का तात्पर्य उस स्थान एवं भूमि से है, जहाँ व्यक्ति उत्पन्न हुआ है और राष्ट्रीयता का तात्पर्य जन्मभूमि के साथ-साथ राष्ट्र की मानव जाति, संस्कृति, भाषा, विचार, साहित्य धर्म आदि से प्रेम करने से है। राष्ट्रीय एकता से तात्पर्य उस प्रवृत्ति के विकास से है जिसमें व्यक्ति अपने संकीर्ण दायरों से ऊपर उठकर राष्ट्र की अखण्डता तथा राष्ट्र के विकास की बात सोचता है। हमें मालूम है कि किसी भी राष्ट्र को मजबूत या दुर्बल बनाने में प्रायः दो प्रकार की शक्तियाँ कार्यशील होती हैं। प्रथम वे आन्तरिक शक्तियाँ जो एक व्यक्ति को दूसरे से जाति, धर्म, भाषा आदि के आधार पर जोड़ती या अलग करती हैं। द्वितीय वे बाह्य शक्तियाँ जो विदेशी सत्ता के रूप में अपनी प्रभुता, आर्थिक सम्पन्नता एवं राजनैतिक गतिविधियाँ के माध्यम से

दूसरे देशों की अखण्डता एवं आन्तरिक मामलों में दखल देती हैं तथा उन्हें दुर्बल बनाती हैं।

स्वतंत्रता के बाद से भारत में राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता पर निरन्तर बल दिया जाता रहा है। अलगाववादी प्रवृत्तियों एवं विघटनकारी शक्तियों ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया कि भारत की अखण्डता एवं एकता को भारी खतरा उत्पन्न हो गया। जाति, धर्म, भाषा के आधार पर स्वतंत्र प्रांतों की मांग उठाकर देश को अनेक छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त करना, राष्ट्र को निर्बल बनाकर अपने कुछ स्वार्थों की पूर्ति करना राष्ट्र-विराधी एकता के ज्वलंत प्रमाण हैं। भाषा, धर्म, जाति के आधार पर देश के विभिन्न भागों में होने वाले लड़ाई-झगड़ों के चित्र हमारे सामने हैं।

जातिवादी कट्टरता राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा है। गाँधी जी एक ऐसे समाज की कल्पना को साकार बनाना चाहते थे जिसमें जातिगत भेदभाव न हो। स्वतंत्रता के बाद भारतीय समाज में जातिगत बन्धन कुछ ढीले पड़े। परन्तु गहराई से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि जातिवादी संकीर्णता तथा कट्टरता में बराबर वृद्धि हो रही है। इसका कारण हमारे राजनैतिक निर्णय हैं। चुनावी लाभ ने जातिवाद की जड़ों को बहुत मजबूत किया है। चुनाव टिकटों का बटवारा जातिगत समीकरणों के आधार पर हो रहा है। हमारे देश में खतरनाक स्थिति यह हो गयी है कि अब चुनाव, कार्यक्रम एवं नीतियों के आधार पर न लड़कर जाति और सम्प्रदायों के आधार पर लड़े जा रहे हैं।

भारत में अलगाववाद की भावना क्षेत्रीयता के रूप में भी उभरी है। खालिस्तान, गोरखालैण्ड,

झारखण्ड, उत्तरांचल जैसे पृथक राज्यों की मांग का आधार क्षेत्रीयता की भावना ही है। इन समस्याओं को गहराने में भारतीय राजनेताओं की भूमिका बड़ी महत्वपूर्ण है। काश्मीर को विशेष राज्य का दर्जा देना और उसे विशेष सुविधाएँ प्रदान करना दूरगामी परिणाम की दृष्टि से राजनीतिक भूल मानी जा सकती है। आज तक हम इस स्थिति को दूर करने का साहस नहीं जुटा सके हैं क्योंकि अब यह समस्या सम्प्रदाय से भी जुड़ गयी है। राष्ट्रीय एकता एक ऐसा लक्ष्य है जिसकी प्राप्ति न केवल समाज एवं राष्ट्र के हित में आवश्यक है बल्कि यह व्यक्ति के पूर्णतम विकास एवं उसकी मानवीयता के उत्कृष्ट गुणों के निखार हेतु आधार है। हमें स्मरण रखना होगा कि राष्ट्रीय एकता में बाधक विघटनकारी शक्तियाँ अंग्रेजी शासन की देन हैं जो आजादी के समय देश को विरासत के रूप में मिली हैं जिसके कारण देश गरीबी और असमानता का शिकार हो गया। पूँजीपतियों, कट्टर धर्मपंथियों और सत्ताधारियों को यह डर लगा रहता है कि कहीं नई सामाजिक क्रान्ति के कारण उनके अधिकारों एवं सुविधाओं में कमी न आ जाये। इसलिए वे बार-बार नये समाज की संरचना में बाधाएँ डालते हैं और उसके विरुद्ध षडयंत्र रचते हैं। ये शक्तियाँ बार-बार जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र आदि के नाम पर भोली-भाली जनता को गुमराह करती हैं और उसमें झगड़ा कराती हैं। बड़े खेद का विषय है कि ये शक्तियाँ पुनः जोर पकड़ रही हैं। देश में अलगाववाद को लेकर कई प्रकार की आतंकवादी गतिविधियाँ, भाषा एवं मजहब के नाम पर झगड़े, जातियों में भी उपजातियों के नाम पर तरह-तरह की राजनैतिक रैलियाँ आदि देश की एकता में बाधा डाल रही हैं। इन विघटनकारी शक्तियों को नाकाम करने के लिए देश की शिक्षा एवं यहाँ के शिक्षकों की महान भूमिका हो सकती है।

राष्ट्रीय एकता को प्राप्त करने का मुख्य

साधन शिक्षा है क्योंकि शिक्षा ही वह प्रक्रिया है जो व्यक्ति के हृदय, विचार एवं व्यवहार में परिवर्तन लाती है और उसका दृष्टिकोण विकसित करती है। डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार “राष्ट्रीय एकता को ईंट और पत्थर, आरी और हथौड़े से तैयार नहीं किया जा सकता है, यह तो व्यक्तियों के दिलों और दिमाग में विकसित होती है। दिल और दिमाग को विकसित करने वाली प्रक्रिया केवल शिक्षा की प्रक्रिया है।” राष्ट्रीयता की दृष्टि से राष्ट्र को सुदृढ़ तथा सफल बनाना नागरिकों का सबसे बड़ा कार्य समझा जाता है। अतः राष्ट्र की आवश्यकताओं, आदर्शों तथा मान्यताओं के अनुसार ही शिक्षा की व्यवस्था की जाती है। नागरिकों में राष्ट्र के प्रति अपार भक्ति, आत्म-त्याग, अनुशासन, कर्तव्य पालन आदि की भावना विकसित करना शिक्षा द्वारा ही सम्भव है। प्रजातन्त्रीय व्यवस्था को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए अपने नागरिकों में राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास करना अत्यन्त आवश्यक है। विश्व के सभी राष्ट्र चाहे वे साम्यवादी हों या तानाशाही अथवा प्रजातन्त्रीय हों—राष्ट्रीय हितों को अपने सम्मुख रखकर अपने-अपने देश में शिक्षा की व्यवस्था कर रहे हैं। शिक्षा द्वारा जहाँ व्यक्ति अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है वहाँ इसके माध्यम से समाज के सदस्यों में एवं दूसरे के प्रति आदर स्नेह एवं विश्वास का भाव पैदा किया जाता है। यह राष्ट्रीय विकास से सीधे रूप में जुड़ी हुई महत्वपूर्ण क्रियाओं में से एक है।

राष्ट्रीयता की भावना जन्मजात न होकर अर्जित होती है। कोठारी आयोग के अनुसार हमें एक ठोस शैक्षिक योजना बनानी चाहिए जो भारतीयसंस्कृति, भावों, विचारों तथा राष्ट्रीय हितों के लिए कार्य करे, जो विरोधी तत्त्वों को नष्ट करे और राष्ट्रीय भावनाओं को प्रोत्साहन दे, जो व्यक्तियों के हृदय में परिवर्तन करे तथा उनमें यह भावना भर दे कि वे भारतीय पहले हैं बाद में बंगाली, मद्रासी,

पंजाबी आदि। हमारे यहाँ शिक्षा की इस भूमिका को समझकर राष्ट्रीय पाठ्यक्रम तैयार किया गया है जिसके तहत भारत के स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास, राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देने के लिए आवश्यक विषय वस्तु, धर्म निरपेक्षता और लोकतंत्र, स्त्री एवं पुरुष की समानता, पर्यावरण सुरक्षा, छोटे परिवार के विचार को बढ़ावा देना तथा वैचारिक क्षमता उत्पन्न करना जैसे मुद्दों को महत्त्व दिया गया है। सच तो यह है कि एक अच्छी शिक्षा व्यवस्था एवं अच्छी शिक्षण प्रणाली स्वतः राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देने में सक्षम होती है। स्कूलों में बच्चों को विभिन्न विषय पढ़ाते समय व विभिन्न कार्यक्रमों का आयोजन करते समय एकता की भावना पर बल दिया जा सकता है। स्कूल का वातावरण ऐसा होना चाहिए जिससे बच्चों के मन में यह भावना घर कर ले। ऐसा वातावरण बनाने में शिक्षक की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर निर्धारित पाठ्यक्रमों में राष्ट्रीय एकता के लक्ष्य को प्राथमिकता देना होगा तथा उन विषयों की शिक्षा पर विशेष ध्यान अपेक्षित है, जो राष्ट्रीय एकता से प्रत्यक्षतः संबंधित हैं। इन विषयों में भाषा एवं साहित्य, इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र, अर्थशास्त्र तथा विज्ञान आदि शामिल हैं। प्रारम्भिक कक्षाओं में भाषा सम्बन्धी ज्ञान पर अधिक बल दिया जाता है। यहाँ जिन उदाहरणों द्वारा राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा मिले, उन्हें उभारकर सामने लाने की आवश्यकता है। उच्च कक्षाओं में लेख लिखवाने के लिए ऐसे विषयों को चुना जा सकता है जिनके जरिए छात्रों को राष्ट्रीय एकता की भावना को व्यक्त करने को अवसर प्राप्त हो। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के अध्ययन से छात्रों में अपने पूर्वजों द्वारा किये गये त्याग की सराहना करने की क्षमता उत्पन्न होगी और वे स्वतंत्रता के मूल्यों को समझ सकेंगे। विज्ञान के शिक्षण का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह है कि

इसके द्वारा छात्रों में तर्क व युक्ति से सोचने की क्षमता आती है। हमारे बहुत से पूर्वाग्रह जो क्षेत्रीयता की देन हैं जिनका कोई ठोस आधार नहीं है इस प्रकार की तर्क बुद्धि द्वारा दूर हो सकते हैं।

पाठ्य सहगामी क्रियाओं के आयोजन से छात्रों में सहभागिता की भावना को प्रोत्साहन मिलता है। इन क्रियाओं में सांस्कृतिक कार्यक्रमों, राष्ट्रीय सेवायोजना के कार्यक्रमों, सामुदायिक विकास के कार्यक्रमों को महत्त्व देना चाहिए। अपने विद्यालय के बाहर सामुदायिक परिवेश में राष्ट्रीय एकता की भावना को एक व्यापक जन-साधारण या सामाजिक चेतना के रूप में उभारना तथा इस दृष्टि से समाज के सामुदायिक उत्सवों एवं त्यौहारों को व्यापक जन भावना के सहज सहयोग द्वारा मनाना होगा। इससे हर समुदाय एवं उसके परिसर में कायम औपचारिक एवं अनौपचारिक शैक्षिक संस्थाओं का लाभ लेने वाले विद्यार्थी अपनी सामुदायिक संस्कृति का आभास और उसके महत्त्व को समझ सकेंगे।

राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास करने में जहाँ जन नेताओं, अभिभावकों तथा सामाजिक कार्यकर्ताओं का बहुत बड़ा हाथ है, वहाँ शिक्षकों की भूमिका भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शिक्षा मानव निर्माण की प्रक्रिया है तथा शिक्षक उसके रचनाकार हैं। शिक्षकों का छात्रों पर प्रभाव अपने विषयों के शिक्षण द्वारा तो पड़ता ही है, उनके आचरण तथा जीवन मूल्य भी उन्हें प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से प्रभावित करते हैं। यह बात कोठारी आयोग से लेकर अब तक नई शिक्षा नीति (१९८६) में बार-बार दुहराई गयी है। परिणाम स्वरूप शिक्षकों के प्रशिक्षण में राष्ट्रीय या भावनात्मक एकता के मुद्दों पर बल दिया गया है। नई शिक्षा नीति में शिक्षकों को राष्ट्रीय विकास के कार्य में भागीदार मानते हुए उनके व्यवसाय की गरिमा एवं उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा को बनाये रखना इसी कारण उचित ठहराया गया। ●

“धारयति इति जीवन मूल्यः”

पद्मजंग

संसार का स्थूल स्वरूप तो एक ही है परन्तु हर मनुष्य के पास उसका एक चश्मा है। जिसके द्वारा वह प्रत्यक्ष का अनुभव करता है, उसे आत्मसात् करता है। इसे हम उसका दृष्टिकोण अथवा नजरिया कह सकते हैं। यह नजरिया शब्द हमारे जीवन के लिये अत्यधिक महत्त्व का है। यह हमारे मानस में पूर्व संचित ज्ञान, विचारादि का एक ऐसा माध्यम है जिसमें से गुजर कर हमारी चित्तन प्रक्रिया किसी भी विषय का विश्लेषण करती है। यह माध्यम रुपी चश्मा प्रत्येक की नाक के हिसाब से भिन्न-भिन्न होता है। इस तथ्य को हम इस तरह समझ सकते हैं कि कई लोगों के सामने एक “आब्जेक्ट” रख दिया जाय अथवा कोई एक घटना घटित हो तथा प्रत्येक से उनके देखे हुए को अभिव्यक्त करने को कहा जाय तो हम पाएँगे कि प्रत्येक व्यक्ति की अभिव्यक्ति में कुछ न कुछ भिन्नता अवश्य होगी। इस घटना अथवा आब्जेक्ट का स्थूल स्वरूप एक ही होने के बाद भी उसके विषय में की गई अभिव्यक्तियों में अन्तर यह दर्शाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी ही दृष्टि को किसी घटना विशेष पर आरोपित करता है अथवा अपने नजरिये के “माध्यम” से ही किसी घटना विशेष को समझने का प्रयास करता है। इस प्रकार उसकी अभिव्यक्ति उसके स्वयं के दृष्टिकोण का ही प्रक्षेपण होती है।

इस निष्कर्ष को यदि हम विस्तार दें तो पाएँगे कि संसार का स्थूल स्वरूप एक होते हुये भी प्रत्येक मनुष्य के स्वयं के विचार के प्रक्षेपण अथवा उसके नजरिये के अनुरूप ही उसका अपना संसार निर्मित होता है। यह तथ्य और व्यवहारिक अनुभव यह बताते हैं कि प्रकृति ने मनुष्य को एक सीमा तक यह स्वतन्त्रता दी है जिससे वह अपने विचारों के

अनुरूप अपना संसार निर्मित करें।

विद्वान व सुधीजन के आसपास विद्वद् मंडली, व्यवसायिक प्रकृति के व्यक्ति के आसपास व्यवसायी, तो दुष्ट प्रकृति के व्यक्ति के आसपास दुष्टों का जमघट हर कहीं देखा जा सकता है। भौतिक रूप से हम देखते हैं कि हम अपनी इच्छानुसार बाजार में जा कर कपड़े खरीदते हैं। अपनी रुचि के अनुसार अपने मकान को डिजाइन करते हैं उसे सजाते हैं। सूक्ष्म में जायें तो अपने मित्रों के चयन, विषय के चयन में भी हमें स्वतंत्रता प्राप्त है। इसी प्रकार हम अपने विचारों का भी चयन करते हैं जैसे दैनिक पत्रों, पत्रिकाओं, पुस्तकों आदि में विभिन्न विषय पर लेख, रिपोर्ट, कहानियाँ आदि छपती हैं परन्तु उनमें से हम अपनी रुचि के अनुसार विषय चुनते और पढ़ते हैं। ये सब छोटे – छोटे उदाहरण हैं परन्तु यदि हम विस्तार और गहराई में जायें तो पाएँगे कि हमारे स्वयं के जीवन पर खुद के चेतन-अचेतन के विचारों की बहुत गहरी छाप है। मित्र, बन्धु, परिवार, समाज, देशकाल आदि अनेकों कारक हो सकते हैं जिनके प्रभाव से हमारी विचार प्रक्रिया निर्मित हुई हो, परन्तु यह निश्चित है कि हम ठीक वैसे ही हैं जैसा कि हमारे संचित विचारों का कोष है। यह एक अलग विषय है कि हमारे वास्तविक आन्तरिक विचार कुछ और हों, परन्तु अपनी बाहरी छवि को बनाये रखने के लिये प्रगटतः हम कुछ और दिखने का नाटक करते हैं। परन्तु बाहरी तौर पर सभी प्रयासों के बाद भी हम यह अवश्य जानते हैं कि हम वास्तव में क्या हैं।

हमारे अपने संसार की निर्माण प्रक्रिया में हमारी वास्तविक विचार प्रक्रिया अथवा “नजरिया” सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटक है। इस सभी विचारणा का उद्देश्य यह समझना है कि हम स्वयं के, स्वयं

के आसपास निर्मित वातावरण के तथा और भी वृहत्तर परिपेक्ष्य में अपने संसार के निर्माता हम खुद ही हैं।

इस निष्कर्ष पर वाद-विवाद, सहमति-असहमति संभव है। परन्तु अपने संसार की निर्माण प्रक्रिया में अपनी विचार प्रक्रिया के योगदान को मात्र वर्तमान जीवन के सापेक्ष देखने के स्थान पर, कर्म व उसके भोग की अवधारणा, पुनर्जन्म की अवधारणा एवं आत्मा की अनश्वरता की अवधारणा के वृहत्तर परिपेक्ष्य में देखने पर हम इस निष्कर्ष को सार गर्भित पाएँगे। यद्यपि इसका एक बड़ा हिस्सा हमारे लिये अज्ञात रहता है। फिर भी अपने ज्ञान के सीमित परिमंडल में भी उपर्युक्त तथ्य के विषय में प्रचुर संकेत पा सकते हैं।

स्वयं के जीवन, अथवा संसार के प्रति हमारा यही "नजरिया" अथवा "दृष्टिकोण" ही तो हमारे लिये हमारा "जीवन मूल्य" है, जिस पर चल कर हम अपने जीवन का मार्ग निर्धारित करते हैं तथा अपने संसार का निर्माण करते हैं। यह तो चर्चा हुई उस जीवन मूल्य की जो हमारे पास, हर व्यक्ति के पास वास्तविक रूप से उपलब्ध है।

अब प्रश्न यह उठता है कि हमारे जीवन मूल्य क्या होने चाहिये अथवा वास्तविक व व्यावहारिक जीवन मूल्य एवं आदर्श जीवन मूल्य के मध्य संतुलन किस प्रकार बने, जिससे हमारा जीवन पूर्णता को प्राप्त हो। प्रायः यह स्वाभाविक तथ्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना लाभ चाहता है, अपना हित चाहता है। स्वाभाविक रूप से उसकी विचार प्रक्रिया एवं उसकी कार्य पद्धति उसी दिशा में होती है, जिसमें उसका अपना हित दीखता हो। यदि हम लाभकारी का अर्थ स्वयं तक सीमित रखते हैं तो अत्यन्त संकुचित सीमा में हम लाभ-हानि का आकलन कर निर्णय करेंगे। हमारा निर्णय भले ही हमें व्यक्तिगत स्तर पर लाभान्वित करें पर उसका असर कहीं न कहीं संसार व समाज को हानि

पहुँचाने वाला भी हो सकता है। एक अत्यधिक स्वकेन्द्रित व्यक्तित्व शायद अपने थोड़े से लाभ के लिए अथवा एक इच्छा की पूर्ति के लिए समाज व संसार को बड़ी से बड़ी हानि पहुँचाने में भी संकोच नहीं करेगा। अतः वैयक्तिक रूप से अथवा मात्र स्वयं को लाभान्वित करना आदर्श जीवन मूल्य नहीं हो सकता है। इसके विपरीत यदि हम लाभ को एक विराट नजरिया देते हैं, हमारे कृत्य हमारे साथ-साथ हमारे संसार व समाज को लाभान्वित करते हैं तो हमारे ये विचार हमें प्रकृतितः विराट की तरफ ले जाएँगे और उस परम अस्तित्व से संयुक्त होकर हमारा दृष्टिकोण ही हमारे व्यक्तित्व को विकसित कर जीवन के उच्चतम अर्थ तक पहुँचा देगा। इस समस्त परिचर्चा का उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि जहाँ संकुचन परम अस्तित्व से प्रारम्भ होकर स्व पर तथा तदुपरान्त अन्ततः मृत्यु पर समाप्त होता है वहीं विस्तार स्व से प्रारम्भ होकर परम अस्तित्व तक पहुँच जाता है।

परम अस्तित्व → संसार → समाज → जाति → कुल → परिवार → स्व → मृत्यु
परिवार → कुल → जाति → समाज → संसार → परम अस्तित्व।

यदि स्वार्थ के घने अंधकार से गुजर कर मृत्यु तक पहुँचने व परमार्थ के प्रकाश से गुजर कर परम अस्तित्व तक पहुँचने के मार्ग का चयन भी हमारे ही हाथों में है तो विस्तार, विकास व परमार्थ का मार्ग चुन कर उस विराट से जुड़ने का मार्ग अपनाने में किसी भी बुद्धिमान व विवेकी व्यक्ति को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। आवश्यकता मात्र यह है कि हम संकुचित लाभों व क्षुद्र स्वार्थों के दूरगामी दुष्परिणाम से अतंतः स्वयं को होने वाली हानि को समझने का प्रयास करें। इसको समझे बिना वैयक्तिक व क्षुद्र स्वार्थों के प्रति मोह भंग होना संभव नहीं है।

अतः आदर्श जीवन मूल्य वही हो सकते हैं जो हमारे जीवन को श्रेष्ठता की ओर, उत्कर्ष की

ओर, समग्रता की ओर तथा निर्भयता एवं निर्मलता की ओर ले जायें। ऐसे सकारात्मक विचार जो हमारे वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के दिशा नियंत्रक हैं, मार्ग दर्शक हैं, वही हमारे आदर्श जीवन मूल्य होने चाहिए। अतः आदर्श जीवन मूल्य का स्वरूप इस प्रकार का होना चाहिए कि प्रकृतिगत विशिष्टता के कारण वैयक्तिक उन्नति के साथ-साथ समाज की उन्नति का भी वाहक हो।

किसी भी दिशा नियंत्रक प्रणाली की श्रेष्ठता के दो मापदण्ड हैं —

१— वह वस्तु/व्यक्ति को सही स्थान पर स्थापित कर सके।

२— वह अधिकाधिक सरल व सहज हो जिसे कोई भी सामान्य व्यक्ति प्रयोग में ला सके।

इसी प्रकार हमारे जीवन मूल्य भी सहज, सरल एवं पारदर्शी होने चाहिए। इस धरती पर प्रत्येक मानव की अपनी एक विशिष्टता है तथा कोई दो मानव पूर्णरूप से एक जैसे नहीं हैं। अतः आदर्श जीवन मूल्य का स्वरूप इस प्रकार का होना चाहिए कि प्रकृतिगत विशिष्टता के कारण वैयक्तिक उन्नति के साथ-साथ समाज की उन्नति का भी वाहक हो। जहाँ मानव की प्रकृतिगत विशिष्टता उसे एक दूसरे से अलग करती है वहीं सभी अलगावों के बाद भी हमें इस संसार में सहअस्तित्व के साथ ही रहना है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक मानव के आदर्श मूल्यों में कुछ हिस्सा स्वाभाविक रूप से प्रकृतिगत विशिष्टता के कारण भिन्न होगा। वहीं सामाजिक प्राणी होने के नाते कुछ हिस्सा एक सा भी होगा, जो हमारे साथ-साथ सम्पूर्ण समाज की उन्नति में सहायक हो। क्योंकि हमारी वास्तविक उन्नति में स्वयं की उन्नति के साथ-साथ सम्पूर्ण समाज की उन्नति समाहित है।

प्रत्येक व्यक्ति के लिये; जो उन्नति के मार्ग पर, विस्तार के मार्ग पर, विराट की तरफ जाना चाहता है, कुछ एक विशिष्ट जीवन मूल्यों में प्रेम व

दृढ़ता को लिया जा सकता है।

जहाँ प्रेम शब्द अपने में इतना व्यापक अर्थ रखता है कि इसकी व्याख्या में अनेकानेक शोध प्रबन्ध या ग्रंथ भी कम होंगे। परन्तु यदि हम इसे "सकारात्मक जुड़ाव" तथा "बिना किसी प्रतिदान की अपेक्षा के देने अथवा त्याग करने के भाव" से जोड़कर देखें तो हम पाएँगे कि यह वह सूक्ष्म तंत्र है जिसके माध्यम से हम अपने वैयक्तिक व आत्म संकुचित खोल से बाहर निकलकर व्यापक से जुड़ना प्रारम्भ करते हैं। यह वह भाव है जो हमें अपने स्वार्थों को छोड़कर दूसरे के लिये जीना सिखता है। हमें समाजिक बनाता है। इस भाव को हम आसपास सर्वत्र देख सकते हैं। कहीं माँ की आखों में अपने बच्चे के प्रति, कहीं प्रेमी की आखों में अपनी प्रेमिका के प्रति, तो कहीं शिष्य की आँखों में अपने गुरु के प्रति।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि संसार में यदि कहीं कुछ भी सुन्दर, कोमल, सरस, व आनन्दपूर्ण है, तो इसके पीछे यह "प्रेम" का भाव अवश्य विद्यमान है।

दूसरा जीवन मूल्य है दृढ़ता का। हमारे जीवन में यह अत्यंत महत्त्व का विषय है कि हम अपने जीवन मूल्यों से कितनी दृढ़ता से जुड़े हैं। यह चारित्रिक दृढ़ता ही वह कारक है जो हमें सफलता के चरम सोपान तक पहुँचाती है तथा जीवन के विपरीत समय में हमें अडिग रहने में सहायक होती है। हमारे धर्मग्रंथ व इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरे हुये हैं। वर्तमान काल में स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी आदि कई ऐसे उदाहरण मिल जायेंगे जिन्होंने नितांत विपरीत परिस्थितियों में भी अपनी, जीवन मूल्यों में स्थित निष्ठा को डिगने नहीं दिया और उनकी इस दृढ़ता के कारण हम उन्हें आज भी सम्मानपूर्वक याद करते हैं। भारतीय मेधा के मूल वेदों व उपनिषदों के सिद्धांतों में गहरी निष्ठा द्वारा जहाँ स्वामी विवेकानन्द ने घोर पतनोन्मुख

भारतीय समाज में आत्मगौरव की भावना विकसित करने तथा सनातन धर्म को समस्त विश्व के समक्ष पुनर्प्रतिष्ठित करने में सफलता प्राप्त की, वही महात्मा गांधी ने सत्य व अहिंसा को जीवन मूल्य के रूप में स्थापित किया तथा आजीवन तमाम आलोचनाओं एवं प्रत्यालोचनाओं के बाद भी पूरे धैर्य एवं संयम के साथ उस पर दृढ़ रहे। परिणाम हमारे सामने है। वर्तमान समय में विश्व में व्याप्त हिंसा प्रतिहिंसा, व्यापक तनाव, घृणा व संघर्ष आदि को देखते हुये ऐसा प्रतीत होता है कि तमाम भौतिक विकास एवं वैयक्तिक स्वतंत्रता उपलब्ध होने के बाद भी आज विश्व का जनमानस समग्र विकास की अवधारणा से दूर है। तथा ऐसे में गाँधीवादी जीवन मूल्यों की प्रासंगिकता दिन प्रतिदिन और बढ़ी ही है।

अतः प्रेम व दृढ़ता रूपी जीवन मूल्यों को साथ लेकर हम अपने लिये जो भी अन्य जीवन मूल्य अथवा दिशा नियंत्रक प्रणाली निर्धारित करेंगे। वह हमें हमारे इच्छित लक्ष्य को भेदने में सहायक सिद्ध होगी। प्रेम जहाँ सर्वहित के सकारात्मक भाव को प्रवाहित करेगा वहीं दृढ़ता जीवन मूल्यों के अनुरूप कृतित्व को निर्धारित करायेगी। वस्तुतः भारतीय परम्परा में विचार एवं कर्म में कोई भेद नहीं रखा गया है। जो सिद्धांत व विचार हमने सही माना उसे अपने कर्म में उतारना ऋषि परम्परा में स्वाभाविक आचरण माना गया है। परंतु वर्तमान युग में यह परम्परा बुरी तरह खंडित हुई है। विवेक सम्मत ज्ञान का स्थान पांडित्य पूर्ण चतुराई ने ले लिया है। परिणामतः आत्म प्रवंचना के शिकार मनुष्य की पाखंड पूर्ण जीवन शैली में विचारणा, कथनी व करनी में भेद निरन्तर उसके व्यक्तित्व को नष्ट करता जा रहा है और उसका दुविधाग्रस्त व कमजोर व्यक्तित्व कभी चारित्रिक दृढ़ता के जीवन मूल्य को प्राप्त नहीं कर पाता है। अतः व्यक्तित्व के दोहरेपन के इस खतरे के प्रति निरन्तर सतर्क रह कर हम इस समस्या का

समाधान कर सकते हैं।

मेरा निश्चित मत है कि हमें अपने मूल्यों का अन्वेषण स्वयं करना चाहिए। स्वयं की प्रकृति से हमसे अधिक कोई भी भिन्न नहीं है। परमात्मा द्वारा प्रदत्त ज्ञान व विवेक का उपयोग कर हमें अपनी प्रकृति के अनुसार स्वयं के लिये जीवन मूल्य निर्धारित करना चाहिए। धर्म ग्रंथों महापुरुषों के विचार, लेख आदि इसमें सहायक व सहयोगी की भूमिका निभा सकते हैं, हमें प्रेरित कर सकते हैं। परन्तु अन्ततः मनाना अथवा न मानना हमारे स्वयं के मन को ही है। अतः उसकी स्वीकार्यता परम आवश्यक है। यही मन ही तो हमें दुविधाग्रस्त करता है तो यही मन ही हमें संकल्पवान बनाता है। हमारे जीवन में जीवन मूल्यों को स्थापित करने वाला भी यही मन ही है तथा आजीवन अपने मूल्यों में अडिग रहने का कारक भी यह मन ही है।

अतः पूरी मित्रतापूर्वक, तर्क, ज्ञान, विवेक, मनन व चिन्तन के साथ अपने इस "मन" में अपने जीवन मूल्यों को स्थापित करना ही हमारा मुख्य अभीष्ट होना चाहिए। एक बार पूर्ण रूप से धारण कर लेने पर यही जीवन मूल्य हमारे लिये धर्म बन जाता है। "धारयति इति धर्मः" उक्ति इसी तथ्य को प्रक्षेपित करती है।

अतः निष्ठापूर्वक स्वयं हेतु निर्धारित जीवन मूल्यों पर चलते हुए अपने जीवन के प्रत्येक कृत्य में उसका अवलंबन करना तथा धर्म पर चलने में कोई भेद नहीं है। स्व ज्ञान से प्राप्त अपने जीवन मूल्यों का निष्ठापूर्वक आचरण करना ही धार्मिक व्यक्ति की पहचान व परिभाषा है।

सम्पूर्ण जगत के प्रति प्रेम भाव रखने वाला मानव जो पूरी दृढ़ता के साथ अपने लिये निर्धारित किये गये जीवन मूल्यों पर चलेगा निश्चित ही जीवन में समग्र उत्कर्ष को प्राप्त करेगा। उसका अर्थपूर्ण जीवन सर्वहित के संतोष एवं आनन्द से सदा सराबोर रहेगा। ●

सद्गुण और समृद्धि

विनय के. एस. चौधरी* एवं

विभेश कुमार चौबे **

सत्यनिष्ठा, सदाचार, सहयोग, अहिंसा, दायित्वबोध, कर्तव्यपरायणता, विश्वास आदि को हम सामाजिक-मानवीय मूल्य या सद्गुण कहते हैं। इन्हें आदर्श, अध्यात्म, धर्म और महात्मा-महापुरुषों से जोड़कर देखते-विचारते हैं। कई बार इन्हें पुराने जमाने की या किताबी बात कह दी जाती है। सद्गुणों की बातें करने वालों और अनुकरण करने वालों को कभी अव्यावहारिक तो कभी पिछड़ा तो कभी सनकी कह दिया जाता है। भ्रष्टाचार में लिप्त होना आज सामाजिक अवगुण और अपमान की बात नहीं, काबिल होने का प्रमाण माना जा रहा है। जिनके पास सत्ता है, उनका यह जन्मजात अधिकार बन गया है। इससे पूरे समाज में, विशेषकर नयी पीढ़ी में एक ही संदेश जाता है कि सदाचार की बात करना मूर्खता है, सफल एवं समृद्ध होना है तो भ्रष्ट होना अनिवार्य है। हमारे चेतन एवं अवचेतन मन में यह भाव दृढ़ से दृढ़तर होता जा रहा है। हम सामान्य निष्कर्ष यही निकालते हैं कि सद्गुण (नैतिकता, मूल्य, अच्छाई, कुछ भी कहें) और समृद्धि में नकारात्मक सहसम्बन्ध, अर्थात् विपरीत सम्बन्ध है। समृद्ध होने का पथ है कुछ मूलभूत श्रेष्ठ मूल्यों की तिलांजलि एवं नैतिक और सद्गुणी होना निर्धनता का पथ है।

क्या ऐसा ही है? क्या सदाचार आदि अच्छे गुण समृद्धि में बाधक हैं? क्या ये बातें अरण्यों-आश्रमों के लिए हैं, समाज में रहने वाले प्राणियों के लिए नहीं? क्या ये केवल स्वामियों-महात्माओं के जीवन और उनके प्रवचन के लिए उपयुक्त हैं, आर्थिक सामाजिक जगत् के लिए नहीं? या फिर सद्गुण

और समृद्धि के बीच कोई सकारात्मक सहसम्बन्ध है?

वस्तुतः सद्गुण चारित्रिक व आध्यात्मिक उत्थान के साथ-साथ हमारी समृद्धि में प्रभावी भूमिका निभाते हैं। देश और काल के विस्तृत परिदृश्य का एक ईमानदार अवलोकन सद्गुण एवं समृद्धि के मध्य इस सकारात्मक सह सम्बन्ध को स्पष्ट कर देता है।

सर्वप्रथम, प्रश्न उठता है कि समृद्धि से तात्पर्य क्या है? बड़ा बैंक-बैलेंस, ऊँची कोठी, ढेर सारी जमीन, कार-फ्रिज इत्यादि? ये सभी समृद्धि के संकुचित चित्र खींचते हैं। ये धनपशु होने के मापदण्ड हो सकते हैं, समृद्ध होने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। समृद्धि सम्यक् ऋद्धि है। इस रूप में समृद्ध होने का वास्तविक अर्थ यह नहीं है कि किस व्यक्ति के पास कितनी चीजें हैं, बल्कि यह है कि वह कितनी चीजों तक पहुँच रखता है; वह किस गुणवत्ता के कितनी वस्तुओं और सेवाओं के उपभोग करने में समर्थ है; वह अपने आस-पास की वस्तु-सेवा का कितना बेहतर उपयोग कर पाने लायक है; अर्थात् वह अपने कल्याण में वृद्धि करने में कितना सक्षम और स्वतन्त्र है। यदि किसी व्यक्ति के पास ढेर सारी सम्पत्ति हो और वह आजीवन कारावास की सजा में जेल में बन्द हो, या जेल में नहीं भी बन्द हो परन्तु अपराध, पुलिस या अन्य किसी भय से स्वनिर्मित कारागार में कैद हो, तो उसे कितना समृद्ध कहा जायेगा?

दो स्थितियों की तुलना करें। एक सद्गुण वाली स्थिति, दूसरी इसका अभाव (इन दोनों ही

*प्रवक्ता, शिक्षा संकाय, 'दून इंस्टीट्यूट ऑफ एजुकेशन' ऋषिकेश

**पूर्व शोध छात्र दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

दशाओं को अपने देश में देखा जा सकता है)। पहली स्थिति में एक व्यक्ति की आय, उदाहरण के लिए, १०,००० रु. मासिक है, या ५ एकड़ जमीन है। दूसरी स्थिति में दूसरे व्यक्ति की आय २०,००० रु. मासिक या १० एकड़ जमीन है। पहली स्थिति में बच्चों के लिए शिक्षा की अच्छी सुविधा उपलब्ध है, योग्य शिक्षक हैं जो पढ़ाने के प्रति ईमानदार हैं, अच्छा पुस्तकालय है, स्वास्थ्य सुविधाएँ उपलब्ध हैं, स्वास्थ्य कर्मचारी कर्तव्यनिष्ठ हैं, अच्छी सड़कें हैं, टेलीफोन सेवा हर समय उपलब्ध है, बिजली-पानी चौबीसों घण्टा उपलब्ध है, सरकारी कार्यों — बिजली, पानी, फोन, गाड़ी आदि के बिल जमा करने, अंक पत्र प्राप्त करने, डिग्री लेने, सभी जगह बिना घूस दिए, बिना समय गवाएँ, तुरन्त काम हो रहा है, लड़कियाँ कहीं आने-जाने, पढ़ने, काम करने में निर्भय हैं, चौबीसों घंटे आप आ जा सकते हैं, इत्यादि। दूसरी स्थिति में शिक्षा की स्थिति बदहाल है, नर्सरी से ही 'ट्यूशन' और मंहंगे स्कूल की व्यवस्था करना पड़ता है, पुस्तकालय है नहीं, है तो बिजली नहीं, वह भी है तो किताबें नहीं आतीं, जो किताबें हैं उसमें से भी काम के पन्ने गायब, स्वास्थ्य सुविधाएँ नदारद हैं, मंहंगे डॉक्टर और मंहंगी दवाइयों के शरण में जाइए, उसकी भी गुणवत्ता का कोई भरोसा नहीं, सड़कें हैं नहीं या हैं तो गड़ढ़े ज्यादा हैं—सड़क कम, बीमार व्यक्ति को लेकर जा रहे हों तो अस्पताल तक पहुंचने का भरोसा नहीं, कहाँ गाड़ी खराब हो जाए, कहाँ सड़क पर टूटी पलटी गाड़ी की वजह से सड़क जाम मिले, कहाँ सड़क जाम का आंदोलन हो, आवश्यकता पड़ने पर मित्र, डॉक्टर या पुलिस को फोन करें, इसका भी कोई भरोसा नहीं, फोन कटा हो सकता है, बिजली का भरोसा नहीं, कब जाए और कितने दिनों बाद आए, पानी का कुछ ठिकाना नहीं, किसी ऑफिस में चार

—छः बार घूमे बिना, चमचों की पूजा और बाबू को चढ़ावा दिए बिना काम नहीं हो सकता, किसी भी समय चलने-फिरने में भी निर्भय नहीं, इत्यादि।

कौन व्यक्ति अधिक समृद्ध है?

धनपशु और धनपशुओं द्वारा शासित समाज के पैमाने पर दूसरा व्यक्ति समृद्ध है, क्योंकि उसकी आय पहले व्यक्ति से १०० प्रतिशत अधिक है। परन्तु कल्याण की दृष्टि से पहला व्यक्ति समृद्ध दिखता है। वास्तविक समृद्धि तो पहले ही व्यक्ति की है, हालांकि उसका नियंत्रण आय पर कम है। वह अपनी संतुष्टि और कल्याण को बढ़ा सके, इसके अवसर अधिक हैं।

एक व्यक्ति की समृद्धि समाज की समृद्धि के दायरे में ही हो सकती है। एक गरीब समाज में कोई व्यक्ति कितना समृद्ध हो सकता है? समाज की समृद्धि ज्ञान, तकनीक आदि अन्य बातों के अलावा नैतिकता, सदाचार आदि गुणों द्वारा निर्धारित होती है। एक भ्रष्ट समाज समृद्ध हो ही नहीं सकता। जिस समाज में जितना भ्रष्टाचार एवं भ्रष्टाचारी होंगे उसमें उतनी ही परजीविता होगी और उतना ही वह निर्धन होगा। दो-चार धनपशु हो सकते हैं, लेकिन वे धनपशु भी एक सीमा में होंगे और बाकी लोग निर्धनता में पिसते रहेंगे। ऐसा इसलिए, क्योंकि समृद्धि बड़बोलेपन, आश्वासन और भ्रष्ट आचरण से नहीं, समाज में व्यक्ति कितना मूल्य जोड़ते हैं, इस बात से आती है। व्यक्तियों द्वारा मूल्य जोड़ने में उनके सद्गुण और दक्षता अर्थव्यवस्था की दक्षता से सम्बन्धित है। अर्थव्यवस्था की दक्षता के लिए मानव-पूँजी, प्राकृतिक संसाधन, भौतिक पूँजी और ज्ञान-तकनीक के साथ-साथ उद्यमशीलता और नवाचार चाहिए। परन्तु इनसे भी अधिक, ये सभी चीजें पनप सकें, फल-फूल सकें, कार्य कर सकें, इसके लिए एक सुव्यवस्था चाहिए।

हर स्तर पर भ्रष्टाचार हो, दादा-नेता जैसे परजीवियों की भरमार हो, बाबूओं की बाबूगिरी हो और उनके चरण सेवा में चमचे हों, चमचों की प्रतिष्ठा और पूजा जनसामान्य की बाध्यता हो, वहाँ न तो प्रतिभा ठहरेगी, न पूँजी। परजीवियों (जो समाज में अनावश्यक जगह बनाते हैं और बिना आर्थिक मूल्य जोड़े धन उगाहते हैं) एवं भ्रष्टाचारियों के समाज में प्रतिभा, पूँजी और समृद्धि की ओर ले जाने वाले नेतृत्व का अभाव हो जाता है और इस स्थिति में दक्षता एवं प्रतिस्पर्द्धात्मकता अपना स्थान नहीं बना पाती। अन्ततः विकास बाधित होता है। विकास न करने वाले समाज में अच्छे गुणों की मंदी का दौर शुरु हो जाता है।

वस्तुतः गरीबी से दुर्गुण आते हैं और दुर्गुण से गरीबी। कहा भी गया है— *“बुभुक्षितः किं न करोति पापं”* अर्थात्, भूखा कौन सा पाप या दुराचार नहीं करता? अन्यत्र भी कहा गया है— *“धनहीनजना जघन्यः”*। निर्धनता एवं दुर्गुण के बीच यह एक दुश्चक्र है।

अतः सदगुणों की कमी से, अन्य दशाओं के समान होने के बावजूद, विकास अवरुद्ध होता है एवं विकास के अवरुद्ध होने से सदगुणों का क्रमशः और भी क्षय होना शुरु हो जाता है। अन्ततः समाज सदगुणों की मंदी के दुष्चक्र में फँस जाता है। हमारे देश के कई भाग ऐसे दुष्चक्र में फँसे दीख रहे हैं। यह और भी गहन हो जाता है, क्योंकि हमारे ‘धनपशु’ रूपी जो ‘रोल मॉडल’ होते हैं, उनसे बाकी जनता और छात्र-छात्राओं को ‘जुगाड़’, ‘पहुँच’, ‘गणित’, ‘व्यवस्था’, ‘चमचागिरी’, ‘भ्रष्ट आचरण’, पुनः सुव्यवस्था एवं सुसंगतता वहीं होगी जहाँ कानून-व्यवस्था के सफल होने के लिए समाज में एक उच्च स्तरीय नैतिकता, व्यवहार प्रतिमान, न्यायशीलता आदि हों। ऐसा समाज जहाँ सत्ता के

‘परजीविता’, ‘परमुखापेक्षिता’ जैसी शिक्षाएँ पहुँचती हैं। भ्रष्टाचार वैचारिक धरातल पर अपनी पैठ बना लेता है। सामान्य रूप में भ्रष्टाचार किसी भी समाज की एक सहज प्रक्रिया है क्योंकि प्रकृति की बुनियादी व्यवस्था ही द्वन्द्वात्मक है और कोई भी परिघटना अपने विपरीत की विद्यमानता से रहित नहीं हो सकती। परन्तु किसी नकारात्मक पक्ष का मुख्यधारा के रूप में वैचारिक स्थान बना लेना निश्चित रूप से एक असहज ही नहीं बल्कि बेहद खतरनाक बीमारी है। ऐसी बीमारी के लग जाने पर मूल्य और नैतिकता सिखाने वाले पाठ्यक्रम एवं अन्य सांस्कृतिक उपागम बेमाने हो जाते हैं। जीवित नकारात्मक मसीहाओं एवं प्रभुओं के उदाहरणों से युक्त, भ्रष्टता को स्वीकृति देने वाली वैचारिकता के सम्मुख सदगुण एवं आचार की बातें महज एक मानसिक विलास होकर रह जाती हैं। यद्यपि कि बिलकुल विरोधाभासी तथ्य यह भी है कि एकमात्र सदगुणों का अवलम्बन ही हमें इस दुष्चक्र से निकाल पाने में समर्थ होता है। वस्तुतः सुख सम्पत्ति मूल्य पर आरुढ़ व्यक्ति के पास ही स्थिर होती हैं। रामचरितमानस के शब्दों में — *“जिमि सुख सम्पत्ति बिनहि बुलाये। धर्मशील पहिं जाहि सुहाये।”*

आधुनिक सामाजिक-आर्थिक शब्दावली में सामाजिक जीवन में व्याप्त सदाचार, सहयोग, सत्यनिष्ठा, विश्वास आदि को, जिनसे समाज में व्यवस्था, सुसंगतता और सुचारुता उत्पन्न होती है, सामाजिक पूँजी कहा जाता है। सामाजिक पूँजी शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। सीमित अर्थ में, किसी व्यक्ति की सामाजिक पूँजी उसके कैसे लोगों से, कितने लोगों से, किस तरह के संबंध हैं, संबंधों में कितनी कृतज्ञता, दायित्वबोध, सकारात्मकता, सदाचारिता विश्वास एवं सहयोग है, इनको संकेत करती है। विस्तृत अर्थ में, समाज में ये गुण कितने

व्यापक पैमाने पर फैले हुए हैं, अर्थात् समाज के सामान्य चरित्र में सदगुण के तत्त्व कितने हैं, इसकी ओर संकेत करती है। अपने दोनों ही अर्थों—व्यष्टि एवं समष्टि—में सामाजिक पूँजी उत्पादन एवं आर्थिक विकास में एक महत्त्वपूर्ण कारक बन जाती है।

भारत में मारवाड़ियों की समृद्धि का एक प्रमुख कारक इस समुदाय के बीच सामाजिक पूँजी की व्यापकता है। मारवाड़ी आपस में एक-दूसरे पर अत्यधिक विश्वास करते हैं एवं उनमें धोखे की प्रवृत्ति न्यूनतम होती है। समयबद्धता, उत्साह, कर्मठता, धैर्य जैसे अच्छे गुण इनमें आसानी से देखे जा सकते हैं। आपसी सहयोग के लिए ये तत्पर होते हैं। लाखों-करोड़ों के लेन-देन बिना किसी कानूनी प्रक्रिया के कर लेते हैं। वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों दृष्टिकोणों से इनके समृद्ध होने का यह एक प्रमुख कारण है। देश भर में फैले पंजाबियों में भी ये गुण एवं तदनुरूप समृद्धि देखी जा सकती है।

वैश्विक स्तर पर जो नए परिवर्तन हो रहे हैं, उनमें सामाजिक पूँजी (या सामाजिक मूल्य) की भूमिका आर्थिक विकास और समृद्धि में बढ़ती जा रही है। आर्थिक विकास के लिए अनिवार्य है कि नए-नए उद्योग-धन्धे स्थापित हों और विकास करें। अर्थात्, पूँजी का निवेश हो और उत्पादन क्रिया हो। आज कोई उद्यमी उस अवस्थिति (लोकेशन) में उद्यम स्थापित करता है जहाँ पर उसका उद्यम सर्वाधिक दक्षतापूर्वक संचालित हो सकता है। नई परिस्थितियों में, जब अर्थव्यवस्थाएँ ज्ञान संचालित हो रहीं हैं, सूचना का प्रवाह तीव्र से तीव्रतर हो रहा है, दक्षता का महत्त्व उत्पादन एवं सम्पूर्ण आर्थिक गतिविधि में बढ़ रहा है, यातायात के साधन बढ़ रहे हैं और सस्ते हो रहे हैं, उत्पादन में प्राकृतिक संसाधनों और अकुशल या अल्पकुशलश्रम का महत्त्व सापेक्षतया कम हो रहा है, ज्ञान, तकनीकी, मानव पूँजी का महत्त्व बढ़ रहा है और

क्षेत्रीय-राष्ट्रीय दीवारें कमजोर पड़ रही हैं, तब दक्षता में वृद्धि करने में सामाजिक पूँजी की भूमिका बढ़ जाती है तथा भविष्य में यह और बढ़ेगी। पूँजी, वित्तीय संसाधन, ज्ञान एवं तकनीक तथा ज्ञानकर्मी आज अत्यधिक गतिशील हैं और इन सभी के साथ उद्यमी वहाँ अपना उद्यम स्थापित कर रहे हैं और करेंगे, जहाँ उन्हें अधिक और उच्च स्तरीय सामाजिक पूँजी उपलब्ध होगी। अब न तो कच्चे लोहे के पास लोहा एवं इस्पात उद्योग स्थापित करने की आवश्यकता है न बाजार के पास खिलौना उद्योग। ऐसे जगहों में, जहाँ सामाजिक पूँजी का क्षय हुआ है, उद्यम स्थापित करने का खतरा कौन मोल लेगा? वस्तुतः सामाजिक पूँजी के अभाव में कानून-व्यवस्था भी दम तोड़ देती है। अतएव, ऐसे क्षेत्रों और देशों के विकास एवं समृद्धि की सम्भावना बढ़ रही है, जहाँ की सामाजिक पूँजी वहाँ स्थापित उद्योगों की दक्षता एवं प्रतिस्पर्द्धात्मकता में वृद्धि करने में सहयोगी हो। ऐसे देश एवं क्षेत्र, जहाँ सामाजिक पूँजी कम है या उसका ह्रास हो रहा है, वहाँ के उद्यमों की दक्षता कम हो जाएगी और पूँजी एवं प्रतिभा के पलायन की संभावना बढ़ जाएगी।

सामाजिक पूँजी तथा आर्थिक विकास एवं समृद्धि के सहसम्बन्ध के आलोक में अपने देश के उत्तरप्रदेश एवं बिहार की स्थिति द्रष्टव्य है। ये दोनों प्रदेश भारत के सर्वाधिक जनसंख्या वाले प्रदेशों में से हैं परन्तु देशी-विदेशी निवेशक अत्यल्प निवेश कर रहे हैं, क्यों? क्या उनको इन प्रदेशों से कोई वैर या पुरानी दुश्मनी है? उत्तर है—नहीं। इन प्रदेशों में सामाजिक पूँजी की कमी है। सामाजिक पूँजी के ह्रास के कारण आधार संरचनाएँ, जैसे बिजली, सड़क आदि बदहाल हैं। किसी चीज का भरोसा नहीं। यही कारण है कि विगत वर्षों में बिहार से पूँजी और व्यापारियों का पलायन हुआ है। वहाँ कितने ही ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ शाम के बाद घर से निकलना खतरनाक है, रात को कोई अतिथि आ

जाए तो दरवाजा भी खोलने में लोग खौफ खाते हैं, खेतों-खलिहानों में असमय नहीं जा सकते, अवैध वसूली सामान्य बात है, अपहरण एक उद्योग हो गया है, अपराध और घूस धंधा हो गया है, उच्च न्यायालय भी जहां की व्यवस्था को 'जंगल-राज' कह चुका है, ऐसे सामाजिक पूँजी के क्षरण की स्थिति में पूँजी का निवेश कौन करे? उसका पलायन ही होना था और परिणाम सामने है। यह विकास के लगभग सभी पैमाने— साक्षरता, प्रतिव्यक्ति आय, असमानता, बेरोजगारी, मृत्युदर आदि— में पिछड़ गया है। ऐसे सभी क्षेत्रों एवं देशों का विकास कुप्रभावित होना ही है जहाँ सामाजिक पूँजी की कमी हो रही है।

वर्तमान में भारत के विकास को अवरुद्ध करने वाला मुख्य कारक मूल्यों का क्षरण ही है। विश्व में भ्रष्टाचार के पैमाने पर हमारा देश अत्यंत ऊँचा स्थान बनाए हुए है। लगातार कई वर्षों से हम भ्रष्टाचार के मामले में सवा सौ देशों से पिछड़े हुए हैं अर्थात्, हमारी तुलना में लगभग सवा सौ देश कम भ्रष्ट हैं (ट्रान्सपेरेन्सी इन्टरनेशनल के आँकड़ानुसार)। देशवासियों के बीच में जातीयता, प्रांतीयता, साम्प्रदायिकता, क्षुद्र मानसिकता आदि आधारों पर एक-दूसरे के प्रति द्वेष, घृणा, असहयोग, बैर-भाव तथा एक-दूसरे को नीचा गिराने एवं दिखाने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। सत्यनिष्ठा, सामर्थ्य, पात्रता एवं उद्यमशीलता के द्वारा धनोपार्जन करने के स्थान पर येन-केन-प्रकारेण धन अर्जित करने पर हमारा बल बढ़ता जा रहा है। अपने काम में बेईमानी करना सामान्य बात हो गई है।

आज जनसामान्य को पुनर्विचार करना होगा कि जिस निजी आर्थिक सुरक्षा एवं समृद्धि के लिए शाश्वत मूल्यों की वह रोज जघन्य हत्या कर रहा है, कहीं इस पाप का फल अपने, आस-पास के बन्धुओं एवं आने वाली पीढ़ी के लिए और भी कड़वा एवं कष्टप्रद तो नहीं होने जा रहा है? जिस समृद्धि

के लिए वह यह सब कर रहा है, कहीं अनजाने में उसी की कब्र तो नहीं खोद रहा ?

यदि ऐसा है तो जब तक हम दुर्गुणों और दुर्गुणों के स्वामी दुर्जनों को मान, अधिमान एवं मूल्य देना बन्द नहीं कर देते, अपने को सदगुणों से युक्त नहीं करते, अपने व्यवहार में श्रेष्ठ मूल्यों को सम्मान देना शुरू नहीं करते, सदगुणी व्यक्तियों को अपना नेतृत्व नहीं सौंपते (पाँच वर्ष पहले के एक आंकड़े के अनुसार देश में, चुनाव आयोग के अध्ययन के अनुसार, ७०० विधायक और सांसद, हत्या, बलात्कार, लूट आदि विभिन्न गम्भीर अपराधों के मामलों में आरोपित हैं, इन्हें हमने चुना है, समाज का भाग्य विधाता बनाया है), अपने लोकतांत्रिक अधिकार का सदुपयोग एवं दायित्व का बेहतर निर्वाह नहीं करते, हम, जनसामान्य, निर्धनता एवं दुर्दशा की चक्की में पिसते रहेंगे।

मानवीय मूल्य केवल चरित्रगत विकास और श्रेष्ठ मानव बनने के लिए ही आवश्यक नहीं हैं, अपितु समृद्ध समाज और समृद्ध समाज का एक समृद्ध एवं गरिमापूर्ण सदस्य बनने के लिए भी अपरिहार्य हैं। यह बिलकुल हमारे हाथ में है कि हम एक समृद्ध समाज के गरिमापूर्ण सदस्य बनें या फिर एक निर्धन और गिरे हुए समाज का एक निर्धन या अधिक से अधिक चालाक, धूर्त, भ्रष्ट, पतित और विकलांग धनी।

क्या हम तत्पर और कटिबद्ध हैं समृद्धि और सदगुण के सहसम्बंध की उन ऊँचाइयों को पार करने के लिए, जिसे हमने ही अपने स्वर्ण युगों में छुआ था और यूनानी राजदूत मेगस्थनीज जिसे देखकर विस्मित था— "जिस (भारतीय) सभ्यता को अपने विशाल वैभव विलास पर गर्व था, उसमें ताले-चाबी को लोग जानते ही नहीं थे। क्या कहीं पर भी कोई हिन्दुओं की ईमानदारी के एक जरा से अंश के बराबर भी ईमानदारी की कल्पना कर सकता है?" ●

वर्तमान भ्रष्टाचार की उपज—एक राजनैतिक विश्लेषण

बरुण कुमार पाण्डेय

चाणक्य को भारतीय राजनीति के इतिहास में सिरमौर के रूप में देखा जाता है। उनके द्वारा राजनीति पर लिखी गयी पुस्तक 'अर्थशास्त्र' जगत प्रसिद्ध कृतियों में से एक है। उनके द्वारा राजव्यवस्था पर दी गयी नीतियों की आज भी भूरि-भूरि प्रशंसा होती है। उनके द्वारा स्थापित राजनीतिक मूल्य आज भी लोगों के लिए आदर्श हैं। चाणक्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधान मंत्री होते हुए भी, राज-काज में जो पारदर्शिता दिखाई, उसका एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है, जो आज हमारे राज-नेताओं को राजनीतिक मूल्य स्थापित करने में सहायक हो सकता है।

चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन-व्यवस्था से प्रभावित होकर एक यूनानी यात्री ने, इस शासन-व्यवस्था के नीति निर्माता से मिलने की इच्छा प्रकट की। चाणक्य राजमहल से दूर एक शान्त कुटिया में राज्य के गुरुतर कार्य का सम्पादन किया करते थे। ज्यों ही वह यात्री उनके कुटिया के पास पहुँचा तथा चाणक्य को इस बात की इत्तला हुई, कि कोई उनसे मिलना चाह रहा है, तो चाणक्य ने पहले से जल रहे दीपक को बुझाकर, उसकी जगह दूसरा दीपक जला दिया और बाहर आ गये। यह देखकर मेहमान को बड़ी हैरानी हुई। जब वह चाणक्य से मुखातिब हुए तब उन्होंने सबसे पहले यही प्रश्न किया कि आपने पहले से जल रहे दीपक को बुझाकर दूसरा दीपक क्यों जला दिया? जबकि प्रकाश दोनों से मिल रहा है। चाणक्य ने बड़े ही विनम्र भाव से कहा, कि जब आप आये उस समय मैं राज्य का काम कर रहा था और दीपक भी राजकोष के पैसे से जल रहा था। परन्तु आप मुझसे व्यक्तिगत रूप से मिलने आये हैं तो मैंने व्यक्तिगत

दीपक जला दिया।

इतना त्याग और पारदर्शी व्यवस्था का पालन करने वाले ये वही चाणक्य थे जिन्होंने, एक साधारण से चरवाहे बालक को सम्राट बनाया।

परन्तु आज हमारे राजनेताओं में त्याग और पारदर्शिता की कमी ने, देश को संकट की स्थिति में ला दिया है। वह संकट, राजनीतिक मूल्यों का संकट है, जो हर व्यक्ति को मूल्यनिष्ठ जीवन जीने से विचलित कर रहा है। आज राष्ट्र के सामने सूनापन सा दिखाई पड़ रहा है, उन राजनीतिक मूल्यों का, आदर्शों का सूनापन जिनकी हर राष्ट्र को आवश्यकता होती है। भ्रष्टाचार में आकंठ डूबे रहनुमाओं की एक लम्बी जमात है। तो फिर विचार करने को मजबूर होना पड़ता है कि —

कांटों भरी राह से आगाह हमें कौन करे।

फूलों में जब हमारे रहनुमा ही खो गये॥

आज राजनीति विमर्श की मुख्य धारा से बाहर हो गयी है। चारों तरफ बचने, बचाने का खेल हो रहा है। राजनीति का अपना कभी एक मिशन हुआ करता था, पर आज वह मिशन सिर्फ लूट-खसोट तक सीमित हो गया है। मूल्यों का क्षरण बड़ी तेजी के साथ हुआ है, जिसने आम आदमी तक को अपनी लपेट में ले लिया। आखिर वह सब हुआ कैसे? क्या कारण रहे, जिनकी वजह से भारतीय मूल्यों, त्याग की परम्परा, एवं चाणक्य सरीखे आदर्श को विस्मृत कर दिया गया।

किसी भी देश समाज के नैतिक पतन का एक सिलसिला होता है जिसके लिये कुछ ऐतिहासिक कारण एवं घटनायें होती हैं, जिसका सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अनिवार्य होता है। स्वतन्त्रता के पश्चात् हमारे देश में भी कुछ ऐसी घटनायें घटी,

जो वर्तमान मूल्य संकट के लिये जिम्मेदार हैं। उन राजनीतिक घटनाओं का क्रमिक एवं संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत है:-

आजादी के बाद सन् १९४६ में २१६ करोड़ रुपये का जीप घोटाला, ऐसा पहला मामला था, जिसमें तत्कालीन ब्रिटेन स्थित भारतीय उच्चायुक्त कृष्ण मेनन का नाम उछला था, यह मामला सूचना एवं संचार माध्यमों की कमी के कारण, आम आदमी के जानकारी से परे रहा और वहीं का वहीं दब गया। सन् १९५६ का सिराजुद्दीन प्रकरण एक ऐसा मामला था जिसमें नेहरू मंत्रीमण्डल के खान एवं ऊर्जा मंत्री के० डी० मालवीय पर गम्भीर आरोप लगे थे। सन् १९५७ के मूंदड़ा कांड को भारतीय गणतन्त्र का पहला बड़ा घोटाला माना जाता है, जिसमें राजनीति और किसी पूंजीपति के बीच अपवित्र गठजोड़ बना था। इस का भंडाफोड़ सांसद फिरोज गाँधी ने किया था। संसद में लम्बी बहस चली और वित्तमंत्री टी० टी० कृष्णामाचारी को इस्तीफा दिलाकर सारा मामला रफा-दफा कर दिया गया। इस घोटाला ने संसद पर तो गम्भीर प्रभाव डाला, पर आमजन तक इसका प्रभाव सूक्ष्म ही रहा।

इस तरह से भारतीय लोकतन्त्र में कई और छोटे-बड़े घोटाले होते रहे, परन्तु १९८३ में चुरहट लाटरी कांड प्रकाश में आया, जिसमें तत्कालीन मुख्यमंत्री अर्जुन सिंह पर आरोप लगे। ध्यातव्य यह है कि यह वही दौर था जब भ्रष्टाचार को खुले तौर पर स्वीकार किया जाने लगा था। श्रीमती इंदिरा गांधी ने उसी समय भ्रष्टाचार को अन्तर्राष्ट्रीय परिघटना कहा था, तब तक आपात काल के कारण भारतीय जनमानस में जागृति हो चुकी थी, और इस घटना ने आम आदमी के मूल्यनिष्ठ जीवन को प्रभावित करना शुरू कर दिया।

सरकारी सौदों में 'कट सिस्टम' और कमीशन खोरी को बकायदे संस्थाबद्ध कर देने का उद्भव

संजय गाँधी के समय में हुआ और राजीव गाँधी के जमाने का बोफोर्स प्रकरण इसका सबसे ज्वलन्त उदाहरण था, इस घटना ने भारतीय राजनीति और समाज की दिशा ही बदल दी। इस प्रकरण ने आम-आदमी के भ्रष्ट होने के मानो दरवाजे ही खोल दिये। बोफोर्स मामले पर जो होना चाहिये था, वह न होकर कुछ और ही हो गया। वी० पी० सिंह ने इस मुद्दे को उछालकर खूब राजनीतिक लाभ उठाया, और प्रधानमंत्री बन बैठे। भारत की यह तकदीर, कि जिसे फकीर की संज्ञा दी गयी, अन्ततः इस मुद्दे पर चुप्पी साध ली, बोफोर्स प्रकरण पर हुआ कुछ नहीं, और आज तक नहीं हुआ, पर इसके पीछे जो कुछ हुआ वह देश के लिए खतरनाक साबित हुआ, राजीव गाँधी इस प्रकरण में फंसे, पर मामले की तात्कालिक जाँच हुई नहीं। धीरे-धीरे देश की जनता में यह संदेश गया कि इस देश का राजा ही चोर एवं भ्रष्ट है। जब बड़े लोगों का यह हाल है तो आम आदमी का भ्रष्ट एवं चोर होना कोई बड़ी बात नहीं है। फिर क्या, आम आदमी के भ्रष्ट एवं नैतिक रूप से गिरने का सिलसिला शुरू हो गया, जो आज तक बदस्तूर जारी है। जनता कानून व्यवस्था को लेकर बेखौफ हो गयी। इस २६५ करोड़ के घोटाले ने बाद में इस देश के लिये हजारों करोड़ रुपये के घोटाले की नींव रखी। पंचायती राज व्यवस्था, सत्ता का विकेन्द्रीकरण, उदारीकरण, भूमण्डलीकरण तथा टेलीवीजन से उपजी मृगमरीचिका एवं उपभोक्तावादी संस्कृति ने, इस आग में हवा का काम किया। जिसके परिणाम स्वरूप बाद में चारा घोटाला, यूरिया घोटाला, हवालाकांड, ताबूत घोटाला एवं तेल के बदले अनाज प्रकरण होते रहे। सबका सिर्फ राजनीतिक लाभ उठाया गया, पर समाधान नहीं खोजा गया, अन्ततः यह मान लिया गया कि भ्रष्ट होना न कोई मुद्दा है न समस्या। यह वर्तमान सिस्टम की अनिवार्यता है। जबकि बोफोर्स प्रकरण की यदि उसी समय

जाँच कराके दोषियों को कड़ी सजा दी जाती तो जनता में इसका अच्छा संदेश जाता, कि कानून सबके लिये समान है दोषियों को सजा मिलेगी ही। परन्तु वी. पी. सिंह ने ऐसा होने नहीं दिया और राजनीतिक लाभ उठाने की देश में गलत परम्परा डाल दी, जो आज देश के लिये सिरदर्द बनी हुई है।

आज हालात हम सब के सामने है, जन्म के पंजीकरण से मृत्यु तक भ्रष्टाचार व्याप्त है। आर्थिक सम्पन्नता की चाहत ने सबको मूल्यनिष्ठ जीवन से विचलित कर दिया है। इससे लड़ने का कोई कारगर उपाय नहीं दिख रहा है। एक युवाशक्ति है जो इसके प्रति आक्रोशित दिखाई दे रही है पर वह भी लाचार है, सिस्टम से। जरूरत आत्म मन्थन की आ पड़ी है कि यह सोचा जाय कि हम कहाँ है, क्या कर रहे हैं, हमें कहाँ होना चाहिये, क्या करना चाहिये। अभी भी वक्त है कि लड़िये, हारने के लिये ही सही, दुष्यन्त कुमार ने ठीक ही कहा है कि :-

इस नदी की धार में ठंडी हवा आती तो है।

नाव जर्जर ही सही, लहरों से टकराती तो है।।

परन्तु आज लोकतन्त्र खोखला हो गया, क्योंकि लोगों ने सोचना बन्द कर दिया है। एक स्वस्थ राष्ट्र के लिये यह आवश्यक है कि विभिन्न मुद्दों पर चिंतन और मनन होता रहे। पिछले साल 'रंग दे बसन्ती' और इस साल आई फिल्म 'लगे रहो मुन्ना भाई' ने राजनीतिक भ्रष्टाचार एवं आम भ्रष्टाचार से जुड़े सवाल का अलग-अलग ढंग से समाधान प्रस्तुत किया। 'रंग दे बसन्ती' ने भगत सिंह की तर्ज पर तो वहीं 'मुन्ना भाई' ने गाँधी जी के तर्ज पर समाधान प्रस्तुत किया। एक तरफ क्रान्ति की राह चलने वाला वह तेजस्वी, प्रखर और दूरदर्शी विचार कथा जिसने २३ वर्ष की छोटी सी उम्र में फांसी का फंदा चूमा, तो दूसरी तरफ अहिंसा का पुजारी है, जो हर कदम पर समझौतावादी है और अन्ततः हिंसा का शिकार हो जाता है। आज

फिर से गाँधीगिरी का अभ्यास शुरू हो गया है। भू-माफिया से लेकर अण्डरवर्ल्ड डॉन तक सभी ने गाँधी जी को अपना आदर्श बताया, फूलों के गुच्छे बाँट रहे हैं, हृदय परिवर्तन की बात करते हैं, ताकि उनके लिये राजनीति की सीढ़ी तैयार हो सके। यही गाँधी जी का अद्भुत दर्शन है, जो तिल-तिलकर मरने जीने के लिये विवश करता है।

दूसरी तरफ 'रंग दे बसन्ती' के भगत सिंह की तर्ज को इसलिये छोड़ दिया जाता है क्योंकि वह हिंसक है और आमूल-चूल परिवर्तन चाहती है। सवाल यह नहीं है कि किस दर्शन को अपनाया जाय तो समस्या का सामाधान निकलेगा। सवाल यह है कि परिस्थितियाँ कैसी हैं? उसके लिये कौन सा दर्शन उपयुक्त होगा? हिंसा या अहिंसा का। क्योंकि भगत सिंह ने भी एक बार कहा था, कि "पिस्तौल और बम इन्कलाब नहीं लाते, बल्कि इन्कलाब की तलवार विचारों की साज पर तेज होती है।" यही वाक्य उन्हें गाँधी के करीब लाता है। पर सवाल यह है कि उस विचार का स्वरूप कैसा होगा। क्योंकि असेम्बली में बम फेंकने के सन्दर्भ में उन्होंने यह भी कहा कि :- "बेचैनी रोज-रोज बढ़ रही है। यदि उचित इलाज न किया गया तो रोग खतरनाक रूप ले लेगा। कोई भी मानवीय शक्ति इसकी रोकथाम नहीं कर सकेगी।"

क्या भ्रष्टाचार का स्वरूप आज विकराल नहीं हो गया है? क्या इसे लेकर बेचैनी बढ़ती नहीं जा रही है? क्या यह रोग खतरनाक रूप नहीं ले रहा है? ऐसे में आवश्यक है कि सब प्रकार की हिंसाओं को समाप्त करके, एक नये प्रकार की हिंसा को अपनाया जाय। क्योंकि निर्माण के लिये ध्वंस जरूरी ही नहीं, अनिवार्य है। परन्तु ऐसा होने दिया जायेगा, इसमें सन्देह है। क्योंकि 'रंग दे बसन्ती' के ऊपर 'मुन्नाभाई' भारी हैं। यह हमारे देश के बौद्धिकों की सोची समझी रणनीति का एक हिस्सा है। जिस देश की ५०% जनसंख्या युवा हो,

फिर भी उन्हें गाँधीगिरी के लिये विवश किया जाए, तो निःसन्देह वह राष्ट्र गतिरोध की स्थिति में है। जब गतिरोध की स्थिति लोगों को अपने शिकंजे में लेती है तो लोग किसी भी प्रकार की तब्दीली से हिचकिचाते हैं। यही स्थिति आज भारत के सामने है। विचार इस बात पर अवश्य किया जाना चाहिये कि यह गतिरोध की स्थिति समाप्त कैसे होगी?

भ्रष्टाचार और उसके निवारण में जब वाह्य वैचारिक धरातल नहीं दिखाई देता है तो हमें किसी आन्तरिक धरातल की खोज करनी चाहिये। जिसका निदान लोकतन्त्र के अन्दर ही हो। इसी के तहत आज 'गुड गुवर्नेस' 'पावर टू द पीपुल' 'एडमिनिस्ट्रेशन फ्राम बिलों' की अवधारणायें उभरीं। 'सूचना का अधिकार' इन्हीं अवधारणाओं का एक कारगर हथियार साबित हुआ है। क्योंकि लोकतान्त्रिक प्रणाली के अन्तर्गत प्रशासन की जिम्मेदारी अप्रत्यक्ष रूप से आम जनता को ही दी गयी है। ऐसे में प्रशासन को जनता के प्रति जवाबदेह होना ही होगा। इस तरह जनता अपने धन के सही इस्तेमाल की जानकारी ले सकती है। गरीब एवं असहाय लोगों को न्याय दिलाया जा सकता है। इसकी सबसे अधिक मार उन भ्रष्ट नौकरशाहों, दलालों, नेताओं पर पड़ेगी जो सामान्य जनता के हितों की पूर्ति के लिये जारी किये गये आर्थिक स्रोतों का गैर-कानूनी भक्षण कर रहे थे।

आज सूचना के अधिकार का प्रयोग कई स्वयंसेवी संस्थाओं, समाज सुधारकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं एवं बुद्धिजीवियों के द्वारा किया जा रहा है। राजस्थान में अरुणा राय, दिल्ली में अरविन्द केजरीवाल, महाराष्ट्र से अन्ना हजारे ने, भ्रष्ट नौकरशाहों, सार्वजनिक वितरण प्रणाली से जुड़े भ्रष्टाचार को खत्म करने में अच्छी सफलता अर्जित की है। अरविन्द केजरीवाल ने तो 'परिवर्तन' संस्था के जरिये संगठित नागरिक आन्दोलन की जो शुरुआत की, उसका परिणाम यह रहा कि विद्युत

बोर्ड के भ्रष्टाचार एवं आयकर विभाग के भ्रष्टाचार को घुटने टेकने पड़े। यदि अरविन्द केजरीवाल जैसी शुरुआत मात्र १०० लोगों द्वारा कर दी जाय तो भारत की तस्वीर बदल सकती है। गरीब तबकों तक विकास का लाभ पहुँच सकता है। एक खुशहाल भारत का निर्माण हो सकता है जरूरत सिर्फ आम आदमी को इस आन्दोलन से जुड़ने की है, नीचे से लोकतन्त्र स्थापित करते हुए भ्रष्टाचार विहीन समाज की स्थापना करने के लिए प्रतिबद्धता की है। यदि अरविन्द केजरीवाल जैसा प्रयास भारत के हर क्षेत्र, हर विभाग, हर राज्य, हरेक जिलों एवं गावों में किया जाय तो निश्चित ही एक भ्रष्टाचार मुक्त भारत का निर्माण हो सकता है।

परन्तु हरेक सवाल रोटी पर आकर टिक जाता है। भूख सिद्धान्त पर भारी पड़ जाती है। यही भूख एक ऐसे प्रतिशोध को जन्म देती है, जो विवेक को खा जाती है। भारत के २६% से अधिक जनता के सामने रोटी का सवाल है तो वह किसी आन्दोलन के बारे में कहाँ सोचेगी। इस भूख को भूमण्डलीकरण ने और चौड़ी खाई प्रदान की है। हमारे पास इस भूख को मिटाने के लिये मुहम्मद यूनस जैसा कोई 'ग्रामीण बैंक' भी नहीं है। साम्राज्यवाद और देशी पूंजीवाद के राहु-केतु ने विकास के सूरज को पूरी तरह ग्रस लिया है। इन जलते प्रश्नों का हमारे नेतृत्व के पास ठिठुरता उत्तर है। एक शायर का सवाल आज पूरे देश की जनता का सवाल है—

कौन आजाद हुआ

किसके माथे से गुलामी की सियाही छूटी,
मेरे सीने में अभी दर्द है महकूमी को

मादरे-हिन्द के चेहरे पे उदासी है वही।

क्या हो रहा है और क्या होना चाहिये, यह नैतिकता से जुड़ा सवाल है। हरेक जिम्मेदार नागरिक को, सोते वक्त इन सवालों से अवश्य जूझना चाहिये, चाणक्य की तरह। ●

मूल्यों की जीवंतता

डॉ. बालेश्वर प्रसाद यादव

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

उपर्युक्त श्लोक भारत के सनातन संस्कृति में निहित मूल्यों का चित्रण करता है। परोपकार से पुण्य एवं परपीडा से पाप की प्राप्ति होती है। परोपकार एवं परपीडा दोनों ही विरोधी कर्म हैं जो क्रमशः दो विरोधी प्रतिफलों को उत्पन्न करते हैं। इन दोनों कर्मों में निहित 'पर' की अवधारणा नैतिक सिद्धान्तों में 'परार्थवाद' की ओर संकेत करता है। पुराणकर्ता व्यास ने 'परोपकार' को सर्वोच्च मूल्य माना है। उसी प्रकार, सुकरात ने 'ज्ञान' को, प्लेटो ने 'न्याय' को, अरस्तू ने 'स्वाभिमान' को, स्पिनोजा ने 'ईश्वर भक्ति' को तथा ईसा ने 'प्रेम' को सर्वोच्च मूल्य माना है। इन चिन्तकों के अनुसार ये मूल्य कतिपय अन्य आनुषंगिक मूल्यों को भी समाहित किये हुये हैं जो स्वयं गतिशील होते हुए अन्य सहायक मूल्यों को भी गतिशील (डायनमिक) बनाने में प्रेरणा का कार्य करते हैं। मूल्यों के वर्गीकरण पर ध्यान दें एवं उनकी एकल पालनीयता को चित्रित करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि 'सत्य' एक ऐसा मूल्य है जो स्वयं में परिपूर्ण है एवं यदि प्रतिबद्धता से उस एक ही का पालन किया जाय तो अन्य सभी मूल्य स्वतः सुरक्षित हो जाते हैं। यही विशिष्टता है उस मूल्य की जो उसे सदैव जीवंत बनाये रखती है। यह मूल्य लोचनीय भी है। इसमें पूरी प्रजा के धारणा करने की एक समवेत शक्ति निहित है। यह 'वज्रादपि कठोराणि' एवं 'मृदूनि कुसूमादपि' को समन्वयित कर लेता है।

प्रस्तुत लेख में मैंने उन बिन्दुओं को रेखांकित करने का प्रयास किया है जो सनातन मूल्यों को सर्वत्र एवं सर्वदा गतिशील तथा जीवंत बनाये रख सकते हैं।

आज वैश्वीकरण का दौर है। इससे नयी आर्थिक संरचनायें बन रही हैं। व्यक्ति एवं समाज दोनों के अर्थ, सम्बन्ध एवं संदर्भ परिवर्तित हो रहे हैं। प्रायः यह सुना जा रहा है कि मानव के जीवन-मूल्य भी इस परिवर्तन की चपेट में हैं। इनमें भी बदलाव हो रहा है....., बदलते समय के साथ इन्हें भी बदल देना चाहिए....., ये पुराने मूल्य अब खारिज कर देने योग्य हो गये हैं....., ये अब गतिशील या जीवंत नहीं रहे....., इत्यादि। अब यहाँ प्रश्न है कि क्या सामाजिक तंत्र में हो रहे बदलाव या हास का समाधान पुराने मानदण्डों को हटाकर उनकी जगह नये मानकों को प्रतिस्थापित करने से या अधिकाधिक संख्या में निर्धारक मानकों (मूल्यों) की खोज करने से हो सकता है? यह प्रश्न गम्भीर विवेचना की माँग करता है। यदि हम पूरी स्थिति पर समग्रता से विचार करें तो पायेंगे कि समस्या कहीं दूसरी जगह है और हम समाधान कहीं और ढूँढते हैं। 'परिवर्तन के सत्य' को हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा, परन्तु इसकी आड़ में या इससे घबरा कर मूल्यों के विघटन से नयी चुनौतियों का सामना नहीं किया जा सकता। परिवर्तन होना चाहिए, परन्तु वास्तविक रूप से गतिशीलता की योग्यता धारण करने की क्षमता के साथ। इसके स्वरूप, कारकों एवं आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही परिवर्तन की वकालत करनी चाहिए, वरना हम हर बार की तरह मानदण्डों को बदलते रहेंगे, जीवन मूल्यों का विघटन करते रहेंगे एवं नये मूल्यों की सर्जना भी कर लेंगे, फिर भी समस्या बनी रहेगी और नैतिक संकट हमारे समक्ष छाया रहेगा। इस संकट के वास्तविक समाधान में जाने से पूर्व

इस समस्या का एवं इसके तात्कालिक सतही समाधान का विश्लेषण एवं परीक्षण आवश्यक है। प्रस्तुत लेख उन्हीं बिन्दुओं पर केन्द्रित है जहाँ हम समस्या निर्मूल नहीं करते, वरन् उसका एक नया रूप देकर संतोष कर लेते हैं। आये हम देखें कि मूल्यों के वर्ग क्या हैं? उन्हें व्यापक रूप में कैसे देखा जा सकता है? उनके अधिक विस्तार एवं बहु-नियम-पालनीयता का इन पर क्या प्रभाव पड़ सकता है?

मूल्यों की गणना एक समस्या है इन्हें हम एक-एक करके गिनने की बजाय यदि वर्गीकृत कर लें एवं प्राथमिकताओं के आधार पर उनकी पालनीयता पर ध्यान दें तो यह ज्यादा सार्थक होगा, क्योंकि अन्ततः मूल्यों का मूल्य उनके पालनकर्त्ताओं से रक्षित होता है। मूल्य तो स्वयं में निष्क्रिय एवं आदर्श स्वरूप होते हैं। अगर उनमें कहीं से गति, शक्ति और महत्व के तत्व आते हैं तो वे उनके पालनकर्त्ताओं से, एवं उनके पालन के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले परिणामों से। जीवन मूल्यों के अन्तर्गत उन सभी मूल्यों की गणना की जाती है जो जीवन को सद्गति देने में समर्थ होते हैं। ये मूलतः व्यक्ति के व्यक्तित्व (जो मानसिक एवं शारीरिक पक्षों का संवलित रूप है) को तुष्ट एवं पुष्ट करते हैं एवं उसके चरम लक्ष्य तक ले जाते हैं। अगर दार्शनिक शब्दावली में कहें तो यह 'चरम लक्ष्य' ही 'चरम मूल्य' है जिसे सनातन भारतीय शास्त्र 'मोक्ष' (परम पुरुषार्थ) की संज्ञा से अभिहित करते हैं। तात्पर्यतः मूल्यों के वर्गीकरण से उनका तारतम्य या वरीयता क्रम भी निर्धारित हो जाता है एवं उच्चतर तथा उच्चतम मूल्य भी हम जानने में सक्षम हो पाते हैं।

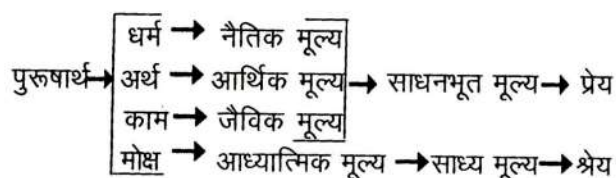
व्यक्तित्व के दोनों पक्षों (मन एवं शरीर) को तुष्ट एवं पोषित करने वाली इनसे सम्बद्ध कुछ

मूलप्रवृत्तियाँ (इन्सटिक्ट्स) होती हैं जिनके अनुरूप उनके अपने मूल्य होते हैं। जैसे क्षुधा, काम-प्रवृत्ति, खेल, शारीरिक श्रम, सह-प्रवृत्ति, जिज्ञासा, स्वप्रकाशन, सहानुभूति, युयुत्सा, रचनात्मकता, अनुकरणीयता, श्रद्धा, प्रेम आदि इनमें से कुछ 'मनस्' से सम्बन्धित हैं एवं कुछ 'शरीर' से। इन प्रवृत्तियों के अनुरूप मूल्य भी निर्धारित होते हैं जो निम्नवत् वर्गीकृत किये जा सकते हैं—

मूल प्रवृत्तियाँ → उनके मूल्य → मूल्यों के प्रकार

	↓	↓	↓
भूख (हंग) काम (डि'जाइअरस)	शारीरिक एवं मानसिक		
संग्रह-भाव, शारीरिक श्रम, अर्थोपाजन	आर्थिक		जैविक
खेल-कूद, मनोरंजन	शारीरिक एवं मनोविनोदिक		
समूह निर्माण	सांगठनिक		अतिजैविक
स्वप्रकाशन, सहानुभूति प्रेम, युयुत्सा, सेवा-भाव	चारित्रिक		सामाजिक
आश्चर्य, तर्कणा	बौद्धिक या मानसिक		अतिजैविक
रचनात्मकता, अनुकरणीयता, कला	कलात्मक		अतिसामाजिक
प्रेम, श्रद्धा, भक्ति, आस्था	धार्मिक		आध्यात्मिक
सत्य-असत्य/उचित-अनुचित विवेक	ज्ञानात्मक		नैतिक

वर्गीकरण के पश्चात् यह समस्या आती है कि हमें पालन में किसे वरीयता देनी चाहिए? उपर्युक्त वर्गीकरण की अवधारणा पाश्चात्य चिन्तन पद्धति पर आधारित है। अतः मूल्यों की पालनीयता की समस्या के समाधान हेतु भारतीय मूल्यों के आधुनिक वर्गीकरण पर ध्यान दें तो बात आसान हो जायेगी।



नियमतः या सुविधा की दृष्टि से 'साधन' के द्वारा ही 'साध्य' को प्राप्त किया जाता है। अतः साधनभूत मूल्यों को पहली वरीयता दी जानी चाहिए, तब साध्य मूल्य को। सर्वप्रथम 'धर्म' आता है जो एक नैतिक मूल्य है, अतः साधनभूत मूल्यों की सूची में सर्वप्रथम इसका ही पालन होना चाहिए। परन्तु, यहाँ एक समस्या है कि किस कर्म को नैतिक माना जाय और किसे अनैतिक? पालनीय कर्म तो बहुत हैं, तो क्या इनकी एक सूची बनाकर सबका पालन शुरू किया जाय? नहीं, इससे एक नयी समस्या उत्पन्न होगी और यह संभव है कि कभी एक ही समय दो या दो से अधिक पालनीय नियम (मूल्य) उपस्थित हो जाय और धर्मसंकट की स्थिति उत्पन्न हो जाय। ऐसी विशेष स्थिति में या सामान्यतः यह ध्यातव्य है कि हमें यह सर्वदा एवं सर्वत्र याद रखना है कि चाहे हम जो कर्म करें, उसमें एक वरीयता क्रम तो हो ही, साथ ही, जो सर्वप्रमुख बात है, वह यह है कि हमें देखना चाहिए कि उसमें मुख्य सदगुण निहित

है या नहीं। मुख्य सदगुण भारतीय परम्परा के कई सम्प्रदायों में प्रायः पाँच माने गये हैं— सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय एवं अपरिग्रह। प्राचीन पाश्चात्य परम्परा में सुकरात ने 'ज्ञान सदगुण है' (नॉलेज इज वर्च्यू) एवं 'सदगुण ज्ञान है' (वर्च्यू इज नॉलेज) कहकर ज्ञान एवं धर्म (सदगुण) में तादात्म्य स्थापित किया है। अब हम सदगुणों के इन सिद्धान्तों से यह नियम बना सकते हैं कि परिस्थिति चाहे सामान्य हो या विशेष, वहाँ पर हम उसी कर्म को संपादित करें जो सदगुण हो, ज्ञानस्वरूपता यानि सत्य का तादात्म्य रूप हो और वह भी व्यापकरूपेण। यानि सर्वप्रमुख सदगुण 'सत्य' को माना जाय और इसका मनसा (मन से), वाचा (वाणी से) एवं कर्मणा (कर्म से) पालन किया जाय। अगर हम इस एक मात्र सदगुण की एकल पालनीयता पर ध्यान केन्द्रित कर लें तो अन्य सभी सहायक सदगुण स्वतः पालित हो जायेंगे। व्यापक रूप से देखें तो भारतीय पंच—सदगुणों की सूची में चार अन्य भी इसी के अन्तर्गत समाहित हैं। यानि अगर आप 'सत्य' मार्ग पर आरुढ़ हैं तो अवश्य ही 'हिंसक' नहीं हो सकते; 'ब्रह्मचर्याचरण' से युक्त होंगे; तथा 'स्तेय' एवं 'परिग्रह' से पूर्णतः मुक्त होंगे। अगर इनमें (हिंसा, अब्रह्मचारिता, स्तेय तथा परिग्रह) से किसी भी एक से किंचित मात्र भी युक्त हैं, तो आप 'सच्चे' (सत्यारुढ़) नहीं कहे जा सकते। अतः हम सर्वप्रमुख सदगुण 'सत्य' का हर हालत में पालन करें, अनुरक्षण करें। सदगुणों (मूल्यों) की इस एकलपालनीयता में ही 'बहु—मूल्य' पालनीयता समाहित है। अतः यह सर्वप्रमुखतः ध्यातव्य है। धर्म (नैतिक मूल्य) के पश्चात् अर्थ (आर्थिक मूल्य) आता है। इसका भी पालन एवं

अर्जन नैतिक मूल्यों के माध्यम से ही होना चाहिए तभी उस साधनभूत मूल्य— 'अर्थ' का महत्त्व होगा। पुनश्च, इन दोनों मूल्यों के द्वारा या इनसे युक्त होकर ही जैविक मूल्य या 'काम' पुरुषार्थ का संयमपूर्वक प्राप्ति या पालन करना चाहिए। अब उपर्युक्त इन तीनों मूल्यों का संतुलित रूप से पालन करते हुए मोक्ष (आध्यात्मिक मूल्य) की तरफ अग्रसर होना चाहिए जो हमारे जीवन का सारभूत लक्ष्य है। यही चरम सत्य है। यही 'स्व' के स्वरूप का ज्ञान है। यहाँ सभी सहायक मूल्य एक निरपेक्ष मूल्य में विलीन हो जाते हैं एवं व्यक्ति या साधक पूर्णतः 'मूल्यमयता' या 'मूल्य-स्वरूपता' का भान करने लगता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सर्वप्रथम नैतिक मूल्य का 'सत्य' व्यक्ति के आचरण में प्रविष्ट होकर उसे आध्यात्मिक मूल्य के 'सत्य' तक गतिशील बनाता है एवं जीवन के सारभूत लक्ष्य तक लाता है। उस प्रथम 'सत्य' से चरम सत्य तक पहुँचने में व्यक्ति संवाहक का कार्य करता है। लेकिन इसी व्यक्ति के द्वारा इस आदर्शरूप मूल्य में जीवंतता आती है।

अतः निष्कर्ष स्वरूप यह स्पष्ट है कि मूल्यों की जीवंतता का दायित्व एवं श्रेय व्यक्ति को ही जाता है। क्योंकि मूल्य तो स्वयं में निष्क्रिय एवं आदर्श स्वरूप हैं। इसकी व्यावहारिक उपयोगिता के आधार पर इनके संवाहक विवेकशील मानव इन्हें जीवंत बनाये रखते हैं। मूल्यों की जीवंतता में ही मानव का जीवन है। इनके बिना मानव निर्जीव जड़ जगत् की तरह हो जायेगा। अतः मूल्य वरेण्य हैं, हमारे श्रेय हैं। ●

मेरे प्यारे बच्चो !

यह तुम्हारा देश है, औरों से न्यारा, सबसे बढ़-चढ़कर, तुम्हारा सर्वस्व इसे सपर्पित हो, तुम्हारा जीवन इसकी सांस्कृतिक एकता की रक्षा में काम आए, तुम सार्वजनिक कल्याण के लिए उत्सर्ग हो; तुम तन से, मन से, धन से, राष्ट्र को अभ्युदय की ओर अग्रसर करो।

मेरे प्यारे बच्चो !

शील से रहित ज्ञान निरर्थक है। कोई ऐसा काम मत करना, जिससे माता (विद्यालय) के आँचल पर धब्बा लगे और राष्ट्र के गौरव की क्षति हो। हृदय को पवित्र बना लो, निर्मल बना लो; संसार में जहाँ भी जाओगे, वहाँ मान के अधिकारी होगे। सत्य कहो, सत्य पर आचरण करो और सत्य को ही अपने मानस में उतारो। न्यायप्रिय और निर्भय बनो। नेक कार्य के लिए सदा तैयार रहो। यह शरीर परमात्मा का मंदिर है।

— पं० मदनमोहन मालवीय

तकनीकी विकास और मानव समाज

डॉ० धर्मजंग

मानव समाज में विज्ञान और तकनीकी की शुरुआत तो यद्यपि धीरे-धीरे हुई, पर निरंतर नए आविष्कारों और अनुसंधानों के विकास की गति तीव्रतर हो गई। इस तकनीकी विकास यात्रा को हम प्रख्यात वैज्ञानिक जयंत नार्लीकर जी के विचारों से कुछ अधिक स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं—“यदि हम आदिमानव काल से आज तक के लगभग ५०,००० वर्षों के कालखण्ड को कोई ८०० मानव जीवनियों में बाँटे (यानि एक मानव जीवनी ६२.५ वर्ष की हुई) तो इनमें से पहली ६५० जीवनियाँ तो मानव ने गुफाओं में बिताई। लेखन कला जैसी संस्कृति के लिए आवश्यक कला का प्रयोग वह केवल पिछली ७० जीवनियों में करता आ रहा है और मुद्रण कला तो पिछली ६-७ जीवनियों से ही। जिस बिजली पर हमारा आधुनिक जीवन इतना निर्भर है उसका प्रयोग तो पिछली दो जीवनियों का ही है और अंतरिक्ष तकनीक, सूचना एवं कंप्यूटर की तकनीक तो पिछली एक जीवनी से भी कम समय से प्रयुक्त हो रही है”। निश्चय ही तकनीकी विकास की इस तीव्र गति का प्रभाव हमारे जीवन स्तर पर, जीवन पद्धति पर एवं सामाजिक माहौल पर पड़े बिना नहीं रहता। समाज में विज्ञान द्वारा प्रदत्त नए तकनीकी उपागमों में सही का चयन और चयन के साथ ही इनका उचित उपयोग करने के संदर्भ में भ्रम की स्थिति अक्सर रहती है।

अठ्ठारहवीं सदी में औद्योगिक क्रांति के बाद से विज्ञान आधारित तकनीकी विकास ने मानव जीवन के विकास की गति को, उसके जीवन स्तर को और बढ़ा दिया है। आधुनिक तकनीक ने आज खाद्य उत्पादन को बढ़ा दिया है, स्वास्थ्य सुविधाओं

का विस्तार कर दिया है, अधिक आरामदेह जीवन स्तर का विकास कर दिया है और आपसी संचार को विकसित कर दिया है। पर ये सभी विकास के नए प्रतिमान किन मूल्यों पर विकसित हुए हैं, ये विचारना आवश्यक है। कहीं ये मूल्य हमारे दैनिक जीवन में घटते पर्यावरणीय स्तर और मानवीय मूल्यों में गिरावट से सम्बद्ध तो नहीं हैं, यह एक गंभीर प्रश्न है।

सामान्य मानव के जीवन में तकनीकी विकास का बहुत गहन प्रभाव पड़ा है। विश्व के बहुत से क्षेत्रों या कह लें कि अधिकांश क्षेत्रों में सम्मिलित परिवार द्वारा चालित खेती-किसानी अब मशीनों द्वारा चलित फार्म-हाउसों के स्वरूप में परिवर्तित हो गई है। मानव श्रम द्वारा चलित उपकरणों का स्थान अब स्वचालित मशीनों ने ले लिया है जो एक तरफ तो उत्पादकता को बढ़ा रही है और मानव श्रम की बचत कर रही है वहीं दूसरी तरफ सार्थक कार्यों में आमजनों की भूमिका और निर्णय क्षमता को प्रभावित कर रही है, उन्हें समाप्त करती दिखाई पड़ रही है। तकनीक एक उत्पाद भी है और सामाजिक शक्ति का उपकरण भी है। यह तात्कालिक सामाजिक स्थिति को बहुत गहनता से प्रभावित करने वाली शक्ति भी है। इस तकनीकी विकास के लाभ का वितरण भी, बड़ा असमान हुआ है और विश्व के अमीरों और गरीबों के बीच की खाई और चौड़ी हुई है। जहाँ एक तरफ कुछ देशों में उतना अनाज उत्पादित हो रहा है कि उन्हें अपने अनाज के बाजार मूल्य को गिरने से बचाने के लिए अनाज को पशुओं को खिलाना पड़ रहा है, उन्हें नष्ट करना पड़ रहा है, या उपजाऊ क्षेत्रों में खेती को

रोकना पड़ रहा है, वहीं दूसरी तरफ कुछ राष्ट्रों में भुखमरी और अल्पपोषणता का बोलबाला है। विकासशील देशों में हरित क्रान्ति ने अधिकतर उन बड़े भूमिपतियों को ही लाभान्वित किया है जो महँगे उपकरण, खाद और बीज खरीदने की सामर्थ्य रखते हैं। दूसरी तरफ विकसित देशों में तो व्यावसायिक खेती की ऐसी परंपरा का विकास हो चुका है कि खाद्यान्न उत्पादन सम्बन्धी वृहदाकार कंपनियाँ पूरी खाद्य उत्पादन और वितरण शृंखला की नीतियों को प्रभावित कर रही हैं जिससे शक्ति और धन का केन्द्रीकरण कुछ सीमित लोगों के हाथों में हो रहा है।

तकनीकी विकास के फलस्वरूप ऊर्जा और संचार के विभिन्न नवीन संसाधनों का प्रदुर्भाव हो गया है। ऊर्जा और संचार के विभिन्न नवीन स्वरूपों के उत्पादन और प्रयोग के फलस्वरूप जहाँ एक तरफ मानव जीवन में सरलता और सुविधाओं का प्रवेश हुआ है वहीं दूसरी ओर इस सरलता का अतिरिक्त उत्पाद—मानव के मस्तिष्क का उलझाव अर्थात् मानसिक प्रदूषण और कार्बन डाई आक्साईड के रूप में वायुमंडलीय तापन का बढ़ना भी है। सम्बन्धों का ताना-बाना जो मनुष्य को एक सुखद अहसास देता है वह आज के तकनीकी विकास के दौर में बिखर रहा है। तकनीकी विकास ने जहाँ एक तरफ मानवीय सम्बन्धों की व्यापकता को और विस्तृत किया है, वहीं सम्बन्धों की गहराई, उनकी प्रगाढ़ता में कमी आई है। अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध अब पहले से छिछले हो गए हैं। प्रारंभिक समाज में दैनिक व्यापार कार्य में व्यक्ति के वचन का महत्त्व था, आपसी वायदे से ही सौदा पक्का हो जाता था। फिर लेखन विधा का विकास हुआ और साथ ही वचन भंग की स्थितियाँ उत्पन्न हुईं और अनुबंध पत्र की आवश्यकता पड़ी। अब वर्तमान युग में संचार के

साधनों का काफी विकास हो गया है पर किसी एक ही बात या सौदे की पुष्टि के लिए पहले फैंक्स भेजा जाता है, फिर पत्र के माध्यम से फैंक्स की द्वितीय प्रति भेजी जाती है और अन्त में उन सब की पुष्टि के लिए फोन का उपयोग किया जाता है फिर भी कई बार सौदा पूर्ण नहीं हो पाता है। यह वर्तमान युग में मानवीय समाज में सम्बन्धों के क्षरण और ऊर्जा के अपव्यय को एक साथ प्रतिबिम्बित करता है।

अधिकाधिक तकनीकी आधारित जीवन मानव के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को भी प्रभावित कर रहा है, क्योंकि उपकरणों का अधिकाधिक उपयोग उसे प्रकृति से दूर कर रहा है। विभिन्न यंत्रों, गतिमान वाहनों आदि के प्रयोग से एक तरफ तो लोग अपने समय की बचत कर रहे हैं और उसके बाद बचे हुए समय को विभिन्न व्यसनों, आराम इत्यादि में खर्च करते हैं न कि किन्हीं उपयोगी कार्यों में। इस संदर्भ में भारतीय चिन्तन दृष्टि का एक अनुपम उदाहरण इस श्लोक में व्यक्त है— 'काव्य शास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्। व्यसनेन तु मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा।।' अर्थात् विद्वान अपने अवकाश काल को काव्य शास्त्र आदि के अध्ययन और स्वास्थ्य मनोरंजन में व्यतीत करते हैं जबकि मूर्ख व्यसन, निद्रा और कलह में। वर्तमान युग में यंत्रों का विकास तो हुआ, जिससे मनुष्य के आराम के साधनों में वृद्धि हुई पर अधिक विकसित समाज में पारिवारिक सम्बन्धों का हास हुआ है। यह एक ऐसा विपरीत प्रभाव है जिसे हम नकार नहीं सकते हैं।

तकनीकी विकास की एक उपलब्धि मानव की मौसम के विपरीत प्रभाव से लड़ने की क्षमता के लिए सहयोगी उपकरणों, यथा—फ्रिज, वातानुकूलन यंत्र आदि का विकास है। इन यंत्रों के प्रयोग ने

जहाँ मानव जीवन को आरामदेह बनाया है वहीं दूसरी तरफ इससे उत्पन्न गैस (क्लोरो फ्लोरो कार्बन) से वायुमंडल की ओजोन परत को नुकसान पहुँच रहा है, जिसके कारण वैश्विक गर्मी बढ़ रही है; परिणामस्वरूप ग्लैशियर इत्यादि पिघल रहे हैं और समुद्र का जल स्तर बढ़ रहा है। इस बढ़ते जल स्तर से अनुमान किया जा रहा है कि अगले ५० सालों में विश्व के मानचित्र से कुछ द्वीपीय देश गायब हो जायेंगे।

इसी प्रकार जीव विज्ञान, गुण-सूत्रों इत्यादि के क्षेत्र में काफी खोज हो रही है। इन अन्वेषणों से मानव स्वास्थ्य के क्षेत्र में एक क्रांति की उम्मीद की जा रही है यद्यपि इन अन्वेषणों का अभी व्यावसायिक स्तर पर पूर्णरूपेण प्रयोग संभव नहीं हो पाया है। पर लाभ के साथ यह भी संभावना है कि इन नवीन अन्वेषणों का प्रयोग प्रारंभ हो जाने के बाद आगामी पीढ़ी पर कुछ नकारात्मक प्रभाव पड़े जिसका अभी वैज्ञानिकों को पूरा अंदाजा नहीं है, जिसके सम्बन्ध में सचेत रहने की आवश्यकता है। आज औषधियों के क्षेत्र में भी अधिक धन उन बीमारियों के निदान के अन्वेषण में खर्च किया जा रहा है जो अपेक्षाकृत समृद्ध और धनी वर्ग में अधिक पाई जाती हैं। जबकि उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों की कई महामारियाँ जिनसे गरीब, मध्यमवर्गीय अधिक प्रभावित होते हैं, उन पर यथोचित धन का खर्च और अन्वेषण का यथेष्ट प्रयास नहीं हो रहा है।

पिछले कुछ दशकों में तकनीकी क्षेत्र से सम्बन्धित कुछ भयंकर दुर्घटनाएँ हुईं। इनमें चेर्नोबिल परमाणु संयंत्र दुर्घटना, भोपाल गैस त्रासदी, कोलम्बिया अंतरिक्षयान दुर्घटना, बाम्बे हाई तेल क्षेत्र में आग और विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में तेल टैंकरों के रिसाव और दुर्घटनाग्रस्त होने की घटनाएँ कुछ महत्वपूर्ण

घटनाएँ हैं। ये सब घटनाएँ तकनीकी विकास के साथ सम्बद्ध वे हानिकारक और भयानक पहलू हैं जिन्हें नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। इन सब के अलावा बढ़ते औद्योगिकीकरण और आधुनिक कृषि के चलन से जल, वायु, भूमि आदि तत्वों में जो प्रदूषण का व्यापक फैलाव हुआ है वह अतुलनीय है। खेती में रसायनों का बढ़ता प्रयोग जहाँ एक तरफ उत्पादकता को बढ़ा रहा है वहीं दूसरी तरफ मृदा और जल के प्रदूषण को भी बढ़ा रहा है।

आज विश्व के तकरीबन आधे वैज्ञानिक और इंजीनियर रक्षा उपकरणों से सम्बन्धित निर्माण और अन्वेषण में संलग्न हैं और शेष वैज्ञानिकों में अधिकांश उन अन्वेषण कार्यों में अधिक संलग्न हैं जो विशेषाधिकार प्राप्त लोगों के आराम के विकास के लिए हैं। यद्यपि होना यह चाहिए कि अधिकाधिक संख्या में अनुसंधानकर्ता मानव की सामान्य आवश्यकताओं—रोटी, कपड़ा, स्वास्थ्य, पेयजल, पर्यावरण आदि से सम्बन्धित उच्च किन्तु सरल, सुगम तकनीकों के विकास में संलग्न हों। आज पूरे विश्व में जितना पैसा और संसाधन रक्षा उद्योग में खर्च हो रहा है यदि उसका एक तिहाई भी कृषि, नवीनीकरण योग्य ऊर्जा संसाधनों, वनीकरण, स्वास्थ्य आदि क्षेत्रों के विकास में खर्च कर दिया जाए तो पूरे विश्व के पर्यावरण में व्यापक परिवर्तन आ जाएगा। कभी-कभी महँगे उच्चस्तरीय उपकरण केन्द्रित तकनीकी की बजाय मानव श्रम केन्द्रित और विकेन्द्रित सामाजिक व्यवस्था का विकल्प मानव विकास के लिए अधिक मुफीद सिद्ध हो सकता है।

इस तकनीकी केन्द्रित व्यवहार का सबसे गंभीर खतरा यह है कि यह सभी जीवधारियों—मनुष्य, पशु-पक्षियों और पौधों को केवल उपभोग और नियन्त्रित करने की दृष्टि से व्यवहृत करता है।

आज कई बार किसी सामाजिक समस्या का कोई सरल तकनीकी हल ढूँढने का प्रयास अधिक होता है, बजाय इसके कि किसी व्यापक सामाजिक परिवर्तन या सामाजिक दृष्टिकोण में बदलाव की बात की जाए। जब आवश्यक भौतिक विकास एक पागलपन भरे उपभोक्तावाद में बदल जाए तो मानवीय अनुभव के सबसे महत्वपूर्ण अंग अन्तर्व्यक्तिक सम्बन्धों तथा सामूहिक चेतना और सामाजिक सम्बन्धों में गिरावट ही आती है, उनका विकास नहीं होता है। इसी तकनीकी विकास को आधार बना कर कुछ महिला अधिकारवादी समूहों ने तो यह भी कहना शुरू कर दिया है कि यद्यपि मानव सन्तति के विकास के लिए महिलाएँ ही अधिक महत्वपूर्ण एवं मुख्य हैं और पुरुष एक सहायक उपकरण मात्र हैं फिर भी वर्तमान व्यवस्था में समाज पुरुष-प्रभुत्ववादी अधिक है, अतः भविष्य में तकनीकी विकास (जैसे-क्लोनिंग तकनीक) के बाद शायद जैविक विकास की दृष्टि से पुरुषों की आवश्यकता उतनी नहीं रह जाएगी जितनी आज के समय में है। तकनीकी विकास का यह पहलू पूरी मानवीय व्यवस्था में एक संभावित महत्वपूर्ण परिवर्तन की दिशा में संकेत करता है जो समाजशास्त्रीय और जैविक दृष्टिकोण से गंभीरतापूर्वक विचार करने योग्य है।

तकनीकी के संदर्भ में एक दृष्टिकोण यह है कि तकनीकी समाज को दिशा निर्देशित करती है। इसके अनुसार तकनीकी सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करती है और समाज उसी प्रभाव और संभावित परिवर्तन को दृष्टि में रखकर प्रतिक्रिया करता है। पर मेरा मानना इससे थोड़ा भिन्न है कि तकनीकी ही समाज को निर्देशित करती है। अपितु स्थिति यह है कि से तकनीकी सामाजिक परिवर्तन और संगठन का एक महत्वपूर्ण उपकरण अवश्य है

पर तकनीकी के स्वरूप को सदैव उसी रूप में स्वीकारना आवश्यक नहीं है, जिस रूप में प्रथमतः वह प्रदत्त है या उपस्थित है। साथ ही हमें ध्यान रखना होगा कि आगे आने वाले समय में तकनीकी विकास के प्रभाव से राष्ट्रीय सीमाओं का आलोपन भी होगा और वैश्वीकरण का वातावरण प्रबल होगा। इस नए वातावरण में लोगों का अपनी संस्कृति के प्रति आग्रह बढ़ेगा और साथ ही कमजोर संस्कृति के विलोपन की संभावना भी बढ़ेगी। नए विकास में इन बातों को भी ध्यान रखना आवश्यक है।

यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि पिछले सौ वर्षों में हमने जो विज्ञान के द्वारा कमाया उसी क्रम में हमने अपने पिछले पाँच हजार वर्षों की कमाई का बड़ा भाग खो दिया है। भारतीय चिन्तन दृष्टि में मानव विकास के पाँच चरण स्वीकार किए गए हैं— अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनंदमय कोष। तकनीकी विकास के माध्यम से हम अभी प्रथम तीन की ही पूर्णरूपेण पूर्ति नहीं कर पा रहे हैं, जबकि शेष से दो जो मानव जीवन का चरम लक्ष्य हैं, उन तक पहुँचने की बात तो दूर है।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि विज्ञान तथा तकनीकी के विकास ने समाज के समक्ष नई चुनौतियाँ प्रस्तुत की हैं। हमें वास्तविकता में किस प्रकार की तकनीकी क्षमता चाहिए? क्या तकनीकी के कारण बदलते माहौल में मानव बिना उलझे प्रगति कर सकेगा? विज्ञान समाज के लिए कहाँ तक लाभदायी सिद्ध होगा? ये सब प्रश्न स्वयं में इतने उलझे हुए और ज्वलन्त हैं कि कुछ लोगों का यहाँ तक कहना है कि विज्ञान का यह विकास हमारे लिए सुखकर सिद्ध नहीं होगा अतः हमें औद्योगिक क्रान्ति पूर्व के सादगीपूर्ण जीवन को अपना लेना चाहिए। पर ऐसा हो नहीं सकता है

क्योंकि विकास का पहिया सदैव अग्रगामी होता है पृष्ठगामी नहीं और हम यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते हैं कि कुछ सौ सालों पूर्व का जीवन आज के मुकाबले अधिक सुखी और शान्तिपूर्ण था। उस समय भी अकाल, महामारी और युद्ध जैसे अशान्ति के कारक मौजूद थे जिनका मुकाबला करना तात्कालीन समाज में भी कठिन माना जाता था।

अतः होना यह चाहिए है कि विज्ञान जनित तकनीक के प्रयोग के साथ ही उसके शीघ्र तथा दूरगामी लाभों और दुष्परिणामों को समझा जाए। क्योंकि दूर-दृष्टि से अपनाए गए अनुसंधान समाज के लिए लाभदायी सिद्ध होंगे। विज्ञान और तकनीकी विकास के शोधकार्य को निरन्तर चलाते रहना, उसे संबल प्रदान करना, जैसे समाज का कर्तव्य है, वैसे ही समाज को अपनी इस भूमिका का निर्वहन भी करना होगा कि शोध ऐसी दिशा में प्रगति न करे जिससे भविष्य में समाज को पछताना पड़े। इस संदर्भ में तकनीकी विकास और अन्वेषण का एक ज्वलंत उदाहरण—परमाणु बम हमारे समक्ष उपस्थित ही है। अतः ऐसे ज्ञात और अज्ञात परिणामों के प्रति समाज को सावधानी बरतनी होगी।

अन्त में बात इस मुद्दे पर आकर टिकती है कि हमारे तकनीकी विकास का लक्ष्य क्या हो? और इस प्रश्न का उत्तर यदि एक पंक्ति में देने का प्रयास किया जाए तो यही कहना ठीक है कि— यह इस बात पर निर्भर है कि अच्छे जीवन स्तर के प्रति हमारा मूल्यपरक दृष्टिकोण क्या है। अगर हम अपनी पूर्व परम्पराओं और भारतीय चिन्तन दृष्टि से प्रेरणा ग्रहण करने का प्रयत्न करें तो वहाँ हमें ऐसे कई सूत्र मिलते हैं जो हमें इस संदर्भ में दिशा—निर्देश दे सकते हैं, जिनमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'सर्वभूतहितेरा' के दो सूत्र सर्वप्रमुख हैं। जब

प्रत्येक मानव सम्पूर्ण वसुधा को अपने परिवार का अंग समझ कर कार्य करेगा तो उसका प्रत्येक कृत्य 'परिवार' के हित और संसाधनों के समान वितरण तथा न्याय की भावना से प्रेरित होगा। दूसरे सूत्र—'सर्वभूत' के हित की दृष्टि मानव को जैव—अजैव सभी के प्रति समान दृष्टिकोण से, सद्भाव से कार्यरत होने के लिए प्रेरित करती है, जो निःसन्देह आज की महती आवश्यकता है।

अन्ततः यह कहना अत्यावश्यक है कि परिवर्तन की गति तीव्र से तीव्रतर होती जा रही है और जब पवन वेग प्रबल हो तो भयग्रस्त हो अपने को सुरक्षित गृह में बंद कर लेना एक रास्ता हो सकता है या फिर तीव्र पवन की ऊर्जा का सदुपयोग कर अपनी समस्याएँ सुलझाना दूसरा रास्ता। हमारा उद्देश्य तकनीकी विकास की इस तेज हवा को नियन्त्रित कर अपने जीवन को सुखी बनाना होना चाहिए। ●

“वे लोग ही, जिनमें अप्रतिम उत्साह तथा धैर्य है। जिन्होंने आत्मोत्सर्ग की एकनिष्ठ भावना को सतत् विकसित किया है, जिनमें अपने उद्देश्य के प्रति अटूटनिष्ठा है और जिसे वे महान् तथा गरिमामय समझते हैं, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जैसी संस्था की सेवा कर सकते हैं।”

— पं० मदनमोहन मालवीय

सामाजिक परिवर्तन, संवाद के माध्यम से

राजेन्द्र कुमार

वर्तमान समय में हमारे देश में अनेक प्रकार की सामाजिक बुराईयाँ विकराल रूप लेती जा रही हैं, जैसे भ्रष्टाचार, अपराध, नारी उत्पीड़न, कन्याभ्रूण हत्या, दहेज प्रथा, आदि। पारिवारिक स्तर पर भी कलह, बिखराव, तनाव आदि पीड़ादायक विसंगतियाँ ही अधिक देखने को मिलती हैं। हम सभी प्रायः इन समस्याओं से अवगत तो रहते हैं, लेकिन उन्हें गम्भीरता से नहीं लेते। शायद यह सोचते हैं कि इनसे अन्य लोग ही प्रभावित होंगे, हम नहीं। पर ऐसा होना तो असम्भव है। इन सामाजिक बुराईयों की चपेट में हम भी कहीं न कहीं और कभी न कभी आ ही जाते हैं। हमारी उपेक्षा इन समस्याओं को बढ़ाने में, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, सहायता करती है। किसी गलत बात का विरोध न करना भी एक प्रकार का मूक समर्थन ही होता है, और इसे देखकर आंख मूँद लेना, कायरता।

इन सामाजिक अपराधों व बुराईयों को नियन्त्रित करने के लिए कई नियम कानून बन रहे हैं। उन्हें लागू करने के लिए सरकारी व्यवस्थाएँ भी स्थापित की गयी हैं, फिर भी सामाजिक बुराईयाँ रुकने के बजाय निरन्तर बढ़ती ही जा रही हैं। कानून अथवा दण्ड व्यवस्था द्वारा हम किसी भी सामाजिक बुराई को केवल कुछ हद तक नियन्त्रित कर सकते हैं। स्थाई बदलाव तो तब आयेगा जब हमारी जीवन-दृष्टि और सामाजिक चेतना में बुनियादी परिवर्तन होगा। व्यक्तियों की सोच में इस प्रकार का सकारात्मक परिवर्तन लाना, शिक्षा व्यवस्था का एक प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए।

किसी सामाजिक समस्या को सुलझाने के लिए यह आवश्यक है कि उसके सभी पक्षों का

अन्वेषण किया जाय, समस्या से जुड़े सभी लोगों के विचारों को जाना व समझा जाय। यहीं पर सार्थक संवाद की एक महत्वपूर्ण भूमिका शुरू हो जाती है। दूसरी ऐसे संवाद की महत्वपूर्ण भूमिका है, मिलजुल कर समस्याओं का ऐसा हल निकाल लेना जो सभी को मान्य हो। ऐसा सार्थक संवाद स्थापित करना ही लोकतंत्र की मूल भावना है। लोकतंत्र का अर्थ केवल चुनाव, पार्टियाँ, विधानसभा, लोकसभा की गतिविधियाँ, आदि तक ही सीमित नहीं है। यह मुख्यतः एक सामाजिक दृष्टिकोण है जिसके द्वारा हम सामाजिक, पारिवारिक तथा अन्य सामुदायिक समस्याओं को स्वस्थ और सार्वजनिक संवाद के माध्यम से सुलझाने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार के लोकतांत्रिक एवं समूहगत संवाद की क्या रूप रेखा हो और उसे कैसे अपने लोक जीवन में स्थापित किया जाय, इन प्रश्नों पर गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता है।

ऐसी ही एक सामाजिक समस्या है, कन्याभ्रूण हत्या एवं महिलाओं के प्रति बढ़ते अपराध। उत्तर भारत के कई राज्यों में, विशेषतः हरियाणा और पंजाब में यह एक बहुत बड़ी सामाजिक समस्या का रूप ले चुकी है। इसके कारण इन राज्यों में पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं की संख्या का अनुपात लगातार गिरता जा रहा है। महिलाओं की संख्या में कमी के कारण कई विवाह योग्य पुरुष अविवाहित रह जाते हैं। कई गांवों में अविवाहित पुरुषों की संख्या ३० से ४० प्रतिशत तक हो गयी है, परिणाम स्वरूप महिलाओं के प्रति यौन शोषण, बलात्कार आदि जैसे अपराधों का ग्राफ लगातार बढ़ता जा रहा है।

इस सामाजिक बुराई को रोकने के लिए सरकार ने कई कानून बनाये हैं। कन्याओं की जन्मदर बढ़ाने के लिए सरकार की तरफ से प्रोत्साहन हेतु कन्या जन्म पर आर्थिक सहायता भी दी जा रही है। लेकिन समस्या घटने के बजाय लगातार बढ़ती चली जा रही है। इसलिए जरूरी हो गया है कि इस सामाजिक बुराई को रोकने के लिए जन सामान्य की मानसिक सोच में बदलाव लाया जाय। इस भावना से प्रेरित होकर हरियाणा सरकार ने विभिन्न वर्गों के छोटे-छोटे समूहों के साथ संवादात्मक कार्यशालाएँ (Gender Sensitization workshop) आयोजित करने का एक कार्यक्रम बनाया। ये कार्यशालाएँ प्रायोगिक रूप से राज्य के कुछ जिलों में मई-जून २००६ में चलायी गयीं। इस कार्यक्रम का लक्ष्य था, इन संवादात्मक कार्यशालाओं के माध्यम से इस समस्या के नैतिक और मानवीय पक्षों के प्रति जन-सामान्य को संवेदनशील बनाना और इस प्रकार लोगों की सामाजिक चेतना में सकारात्मक परिवर्तन लाना।

इस कार्यक्रम में मुझे अपने कुछ साथियों के साथ एक संवादकर्ता के रूप में काम करने का अवसर मिला। इस कार्यशाला की प्रक्रिया में सामाजिक परिवर्तन में संवाद की भूमिका एवं उसकी शैली के प्रति जो हमारी अपनी समझ बनी है, उसको मैं आप सभी के साथ बाँटना चाहता हूँ।

एक कार्यशाला की अवधि तीन दिनों की थी। प्रतिदिन डेढ़-डेढ़ घण्टे के चार सत्र चलते थे। अर्थात् प्रतिदिन ६ घंटे संवाद होता था। प्रतिभागियों में पढ़े-लिखे बुद्धिजीवी वर्ग के लोग, जैसे-अध्यापक, डाक्टर, नर्स, पुलिस इन्स्पेक्टर आदि रहते थे। ऐसा नहीं था कि ये लोग नारी उत्पीड़न और कन्या भ्रूण हत्या के बारे में जानते नहीं थे। वे अपने राज्य में लगातार गिर रही महिलाओं की

संख्या से चिंतित भी थे। वे यह भी जानते थे कि महिलाओं की घटती संख्या के कारण ही बड़ी संख्या में विवाह योग्य पुरुष अविवाहित रह जा रहे हैं। जिसके परिणाम स्वरूप महिलाओं के प्रति अपराध पारिवारिक स्तर से लेकर सामाजिक स्तर तक बड़े पैमाने पर हो रहे हैं। सभी इस समस्या का निराकरण भी चाहते थे। लेकिन प्रारम्भ में कार्यशाला के प्रति उनके मन में कोई उत्साह नहीं था। वे प्रायः इसे एक बोझ समझते थे। उनका यह मत था कि ऐसे संवादात्मक कार्यक्रम से इस समस्या का कोई निराकरण नहीं हो सकता है। ऐसा उनकी कुछ टिप्पणियों व हाव-भाव को देखकर प्रतीत होता था। लेकिन जैसे-जैसे कार्यशाला आगे बढ़ती गयी उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन होने लगा। प्रायः सभी लोग खुलकर अपने विचार रखने लगे।

मुझे लगा कि सभी प्रतिभागी समस्या को जानते तो हैं, पर उसकी गंभीरता की समझ उनमें नहीं है। जब आपसी विचार विमर्श से कई स्तरों पर समस्या की गंभीरता को स्पष्ट किया गया तो वे स्वतः ही इस चर्चा को आगे बढ़ाने लगे। पहले दिन उन्हें लगता था कि इस समस्या का कारण सभी दूसरे लोग हैं, मैं नहीं हूँ। इसलिए इसके निराकरण में भी मेरी कोई भूमिका नहीं हो सकती। परन्तु जब दूसरे दिन इस समस्या के कारणों का विश्लेषणात्मक विवेचन किया गया तो उन्हें यह स्वीकार करने में जरा भी हिचक नहीं महसूस हुई कि थोड़ा या ज्यादा, कहीं न कहीं, हम सभी इस समस्या के विकास में सहयोग कर रहे हैं, चाहे स्त्री हो या पुरुष। जबकि प्रारम्भ में वे एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगाने लगते थे। तीसरे दिन की वार्ता में मुख्य बातें इन समस्याओं के निराकरण पर होती थी। प्रतिभागीगण खुले रूप से स्वीकार करते थे कि इस समस्या का विकास छोटे-छोटे स्तरों पर

ही धीरे-धीरे हुआ है, तो इसका निराकरण भी हम अपने-अपने स्तर से सहयोग करके कर सकते हैं। कुछ लोगों ने लिखित प्रतिज्ञा के रूप में शपथ ली कि वे अपने घर में कन्या भ्रूण हत्या नहीं होने देंगे। जैसे-एक महिला कान्स्टेबुल ने लिखा कि हम तीन बहनें और एक भाई हैं। मेरे भाई की भी शादी के बाद पहली लड़की ही हुई है। तो हम लोगों ने निश्चय किया है कि जब दूसरा गर्भधारण होगा तो गर्भपात करा लेंगे। लेकिन इस कार्यशाला के बाद मेरा विचार एकदम परिवर्तित हो गया है। मैं अल्ट्रासाउण्ड नहीं होने दूंगी और लड़का, लड़की जो भी हो, उसे हम सभी स्वीकार करेंगे। अन्त में अधिकांशतः लोगों ने इस प्रकार के संवादात्मक कार्यक्रमों के महत्त्व को स्वीकार किया और सराहा। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि ऐसी कार्यशालाएँ व्यापक स्तर पर निरन्तर चलायी जायँ, ताकि अधिक से अधिक लोगो के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाया जा सके।

इस प्रकार का अनुभव हमें अपने मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र की कार्यशालाओं से भी प्राप्त हुआ। कई व्यक्तियों का दृष्टिकोण प्रारम्भ में नकारात्मक होता है। पर जैसे-जैसे सौहार्दपूर्ण वातावरण में संवाद की प्रक्रिया आगे बढ़ती है, उनका दृष्टिकोण स्वतः ही धीरे-धीरे परिवर्तित होने लगता है। वे स्वयं अपनी समझ के हिसाब से उन समस्याओं पर सोचने-विचारने लगते हैं। जिससे उनके अन्दर स्वप्रयास की भावना विकसित होने लगती है। वे मिलजुल कर समस्याओं के समाधान की ऐसी रूप रेखा बनाने लगते हैं जो सर्वमान्य व सर्वग्राही हो।

सार्थक संवाद के लिए सौहार्दपूर्ण वातावरण परम आवश्यक है। ऐसा वातावरण बनाने में संवादकर्ता की प्रमुख भूमिका होती है। उसे कई बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। जैसे- समस्या को एक

विषय के रूप में स्थापित करके, उसके कारणों पर विचार करने के लिए प्रतिभागियों को ही प्रोत्साहित करना चाहिए, इस विचार-विमर्श से ही समाधान निकलेगा। संवादकर्ता को मुख्यतः एक उत्प्रेरक का काम करना चाहिए, ताकि यह संवाद सही दिशा में चले और सही बिन्दुओं पर केंद्रित हो। समय समय पर उसे अपने विचार भी व्यक्त करने चाहिए। पर उन्हें थोपने का प्रयास कदापि न करना चाहिए। सभी प्रतिभागियों को अपने विचार खुले रूप से रखने का अवसर देना चाहिए। सबकी बातों का आदर होना चाहिए। प्रयास यह होना चाहिए कि लोग समस्या को अपनी समस्या के रूप में देखें और उसके हल के लिए अपनी जिम्मेदारी महसूस करें। कहना न होगा कि ऐसे संवाद के माध्यम से सामाजिक समस्याओं के प्रति लोगों को संवेदनशील बना देना, एक बड़ी कला है। पर अनुभव और प्रयास से हम सभी यह कला सीख सकते हैं और एक कुशल संवादकर्ता बन सकते हैं। इस प्रकार सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूकता एवं उनके समाधान में सहभागिता का भाव उत्पन्न करने के लिए संवादात्मक कार्यशालायें अधिक प्रभावी हो सकती हैं।

इस प्रकार हरियाणा सरकार ने इस सामाजिक बुराई के प्रति लोगों को जागरूक करने हेतु प्रयोग के रूप में इस प्रकार की कुल २४ कार्यशालाओं का आयोजन हरियाणा राज्य के ६ जिलों में किया। जिसके परिणाम के आधार पर राज्य के अन्य जिलों में इस प्रकार की कार्यशाला आयोजित की जायेगी। लेकिन इस लेख को लिखते-लिखते हमें इस बात की सूचना प्राप्त हुई कि हरियाणा सरकार ने वर्ष २००७ में राज्य के अन्य जिलों में भी ऐसी कार्यशालाओं के आयोजन का निर्णय ले लिया है। ●

“कन्या भ्रूण हत्या” – एक नैतिक मूल्यांकन

डॉ० सविता मिश्रा

हमारे धर्मशास्त्रों में ‘अर्द्धनारीश्वर’ का उल्लेख है और आधुनिक समाज में लिंग-समानता, नारी-स्वतन्त्रता, विकास व महिला आरक्षण के मुद्दे विचारणीय हैं। वहीं समाज में व्याप्त दहेज हत्या, बालिका-भ्रूण हत्या, बलात्कार, यौन शोषण आदि अमानवीय व्यवहार महिलाओं के विकास के कार्यक्रम को बेमानी साबित कर रहे हैं। एक तरफ तो महिला-पुरुष के बराबरी की बात की जा रही है दूसरी तरफ तथ्य यह है कि भारत सहित समूचे विश्व में महिलाओं की आबादी तेजी से सिकुड़ रही है, जिसका कारण निश्चित रूप से प्राकृतिक नहीं है।

मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ महिलाओं के प्रति होने वाले अपराधों की संख्या तथा उसकी गंभीरता में भी वृद्धि होती जा रही है। आधुनिक वैज्ञानिक तकनीकों के बढ़ने के साथ समाज की नई मानसिकता कन्या-भ्रूण हत्या के रूप में उभर कर आयी है। ऐसा नहीं है कि वर्तमान में कन्या-वध एक नयी सामाजिक समस्या है, मध्यकाल में कन्या-वध के आँकड़ें देखे जा सकते हैं। अतीत और वर्तमान के कन्या-वध में अन्तर सिर्फ इतना है कि अतीत में लड़कियाँ पैदा होने के बाद मारी जाती थीं। जबकि वर्तमान दौर में ज्यादातर लड़कियाँ जन्म से पहले भ्रूण हत्या (गर्भपात) की भेंट चढ़ जाती हैं।

चिकित्सा विज्ञान में नई तकनीकों के विकास के साथ ऐसा संभव हो गया है कि जन्म के पूर्व गर्भ में ही शिशु के लिंग (Sex) आदि की जानकारी ली जा सकती है। अल्ट्रासोनोग्राफी

और एमनियोसैनटेसिस ऐसे ही परीक्षण हैं, जिनसे गर्भ में शिशु के लिंग का निर्धारण किया जा सकता है। इस तकनीक का उपयोग गर्भ में पल रहे शिशु के विकास, कहीं बच्चा असामान्य स्थिति में तो नहीं, गर्भ में कोई विकार तो उत्पन्न नहीं हो रहा आदि की जानकारी लेने के लिए की जाती है किन्तु अब अल्ट्रासाउण्ड कराने की एक खास वजह शिशु का लिंग पता करना हो गया है। कन्या का पालन-पोषण करने, उसकी आस्मिता की रक्षा करने और जवान होने पर भारी दहेज देकर विवाह करने से बचने के लिए लोग कन्या को अभिशाप मानने लगे हैं।

इस अभिशाप से मुक्ति के लिए वे मादा भ्रूण की गर्भ में ही पहचान कर भ्रूण हत्या (गर्भपात) करा देते हैं।

१९७१ में गर्भ के चिकित्सकीय समापन कानून द्वारा देश में गर्भपात को कानूनी वैधता दे दी गयी – अर्थात् यदि गर्भस्थ शिशु में कोई विकार उत्पन्न हो या स्वयं माँ शारीरिक कमजोरी आदि के कारण स्वस्थ शिशु को जन्म देने में असमर्थ हो तो ऐसी स्थिति में गर्भपात का रास्ता अपनाया जा सकता है। लेकिन गर्भपात की ६० प्रतिशत घटनाएँ कन्या भ्रूण हत्या से सम्बन्धित हैं। यद्यपि यह साबित करना मुश्किल है कि जो तेजी से गर्भपात हो रहे हैं उनका आधार चिकित्सकीय निदान है या लिंग परीक्षण का दुष्परिणाम है। महिला-पुरुष लिंग अनुपात में बढ़ते अंतराल से सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि निदान केन्द्रों की चारदीवारियों

के भीतर ऐसे गर्भपातों का क्या उद्देश्य रहा है। २००१ की जनगणना के आँकड़ें बताते हैं कि भारत में महिलाओं की संख्या ४६.८७ करोड़ है जो कि कुल आबादी का ४८.२% है। पंजाब व हरियाणा राज्यों में ०-६ वर्ष की आयु के लड़का-लड़की अनुपात में सबसे अधिक अंतराल है। पंजाब में प्रति १००० लड़कों पर लड़कियों की संख्या ७६३ व हरियाणा में ८२० है। उल्लेखनीय है कि प्रसव पूर्व निदान तकनीक (विनिमय एवं दुरुपयोग निवारण) अधिनियम १९९४ के अनुसार १ जनवरी १९९६ से गर्भस्थ शिशु (भ्रूण) की जाँच के लिए अल्ट्रासोनोग्राफी, एमनिओसेंटेसिस आदि तकनीकों का प्रयोग कर भ्रूण के लिंग सम्बन्धी जानकारी देने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है और इसका उल्लंघन करने वाले के लिए दण्ड का प्रावधान किया गया है तथापि लड़के की प्रबल लालसा में अब लिंग परीक्षण गुपचुप तरीके से किये जाते हैं। और उनकी जाँच रिपोर्ट भी चिकित्सकों द्वारा लिखित के बजाय मौखिक रूप में दी जाती है। अतः इस स्थिति में यह साबित करना कि अमुक-अमुक पक्ष गर्भस्थ शिशु के लिंग का पता लगाने की प्रक्रिया में शामिल होने के लिए उत्तरदायी हैं - लगभग असंभव है।

हड़प्पा संस्कृति में नारी की पूजा होती थी। अर्धनारीश्वर की कल्पना इसी बात का प्रतीक है कि नारी तथा पुरुष समान हैं। कोई भी धार्मिक अनुष्ठान अथवा सामाजिक दायित्व पत्नी के विना पूर्ण नहीं हो सकता था। मनुस्मृति में उल्लेख आया है कि जहाँ नारियों का सम्मान, उनकी पूजा होती है वहाँ देवता निवास करते हैं और जहाँ इनका सम्मान नहीं होता वहाँ प्रगति, उन्नति की सारी योजनाएँ विफल हो जाती हैं।

वैदिक युग में न पर्दा प्रथा थी और न ही सती प्रथा थी। पुत्र के अभाव में पुत्री पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी होती थी। विधवा को भी सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त था। यद्यपि इस काल में भी पुरुषों के वर्चस्व को नकारा नहीं किया जा सकता। महाभारत में युधिष्ठिर द्वारा द्रौपदी को दाँव पर लगाना-ऐसा प्रसंग है जो पुरुष प्रधान समाज में नारी की अधीनता को स्पष्ट करता है। मध्य युग में विदेशी आक्रमण के साथ ही नारी-जीवन का एक नया इतिहास प्रारम्भ हो जाता है। यवनों की काम-लोलुप दृष्टि से बचाने के लिए भारतीय नारी की रक्षा का उपक्रम शुरू होता है। आरम्भ में राजपूत नारियाँ जौहर करके अपने सतीत्व की रक्षा में तत्पर दिखाई देती हैं। तदुपरान्त पुरुष वर्ग नैतिक रूप से नारी की सुरक्षा का उत्तरदायित्व ले लेता है। उसे घर के भीतर पर्दे में रखा जाने लगा। कन्या के रूप में पिता द्वारा, पत्नी के रूप में पति द्वारा और माता के रूप में पुत्र द्वारा रक्षित नारी पुरुष पर आश्रित होती चली गयी।

आधुनिक समाज में विकास और शिक्षा के बढ़ते स्तर में स्त्रियों का एक समुदाय आगे निकल चला है। समाज में ऐसा कोई पद नहीं है, जहाँ स्त्रियों की पहुँच न हो। चाहे वह राजनीति की बागडोर हो या एवरेस्ट की ऊँचाई या अंतरिक्ष की उड़ान सभी जगहों पर महिलाओं ने अपनी पहचान बनायी है, अपनी उपस्थिति दर्ज की है। इसके बावजूद अगर हम समग्र रूप से देखें तो महिलाओं की स्थिति व उनके प्रति सामाजिक विचार में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुआ है। समाज में व्याप्त दहेज प्रथा और लड़कियों की समाज में सुरक्षा की जिम्मेदारी-ये दो मुख्य ऐसे कारण हैं जो समाज में लड़के

व लड़की के प्रति विचार व व्यवहार को बदल देते हैं। प्रारम्भ में बेटियों की शादी में पिता उसे धन देकर विदा करता था ताकि उसका भविष्य सुखमय रहे। स्वेच्छा से दिया गया धन जहाँ एक तरफ पिता की शान में बढ़ोत्तरी करता था वहीं दूसरी तरफ बेटी के भविष्य के प्रति एक सहायता होती थी। लेकिन अब यह विवाह की एक आवश्यक रस्म हो गयी है। पहले दहेज के पैसे तय होते हैं, तदुपरान्त अन्य बातें। भारत जैसे देश में लड़कियों की शादी के समय चूँकि भारी-भरकम दहेज देकर विदा करना पड़ता है इसलिए उन्हें “पराया धन” और “परिवार के लिए बोझ” समझा जाता है। दूसरी ओर लड़के दहेज लाते हैं इसलिए उन्हें “बुढ़ापे की लाठी व सहारा” कहा जाता है। लड़कियों के प्रति विमोह व भेदभाव उनके जन्म से लेकर, खान-पान, रखरखाव, पढ़ाई तथा मृत्यु के समय भी देखा जा सकता है। इसके अलावा समाज में व्याप्त, बलात्कार, यौन शोषण, दहेज हत्या ऐसे पहलू हैं जिनसे लड़कियों की निजी सुरक्षा सन्दिग्ध है— इन कारणों से भी किसी युगल या परिवार में लड़कियों के प्रति किसी प्रकार की दिलचस्पी नहीं होती।

यह नारी जाति का दुर्भाग्य ही है कि नारी के विरुद्ध हो रहे इस कुकृत्य में स्वयं नारी भी भागीदार है। पंजाब — जहाँ महिला-पुरुष अनुपात में सबसे ज्यादा अन्तर है वहाँ हुए सर्वेक्षण में पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं में लड़के की ख्वाहिश कहीं अधिक यानी ८४% पाई गई। महिलाएँ लड़की की भ्रूण-हत्या में कोई हर्ज नहीं मानती तथा लड़की के जन्म को टालने के लिए बीमारी व मौत का जोखिम उठाने के लिए भी तैयार हैं। जाहिर है इस सोच के पीछे घर

के अन्दर और बाहर व्याप्त वे असुरक्षा की भावनाएँ तथा सामाजिक कुरीतियाँ हैं जिनसे हर औसत औरत घिरी हुई है। बेटे की उम्मीद लगाये बैठे परिवार में बेटा जन्मने पर औरत को यातना और अपमान झेलना पड़ता है। ये महिलाएँ लिंग पर आधारित गर्भपात का विरोध करने वाले सामाजिक संगठनों एवं कार्यकर्ताओं के पक्ष में नहीं हैं। उनका मानना है कि ऐसे संगठन एक आम औरत की जिंदगी की जमीनी सच्चाईयों से वाकिफ नहीं हैं।

व्यापक स्तर पर सर्वेक्षण से यह पाया गया है कि कन्या-भ्रूण हत्या के लिए मात्र-पारिवारिक दबाव, अशिक्षा तथा गरीबी जैसे कारण ही जिम्मेदार नहीं हैं। आर्थिक रूप से समृद्ध, सुशिक्षित और स्वावलम्बी महिलाएँ जो बेटियों की अच्छी परवरिश कर धूम-धाम से उनकी शादी करने में समर्थ हैं — वे स्वयं कन्या-भ्रूण हत्या की कसूरवार पायी गयी हैं। जनगणना-२००१ के मुताबिक अपेक्षाकृत समृद्ध और विकसित अर्थात् पंजाब, हरियाणा, चंडीगढ़, दिल्ली, गुजरात और महाराष्ट्र में कन्या-भ्रूण हत्या की समस्या ज्यादा उग्र है।

नीतिशास्त्र, सामाजिक जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्तियों के व्यवहार व आचरण का नैतिक मूल्यांकन करता है। सामाजिक समस्याओं के निदान तथा समाज में आपराधिक प्रवृत्ति को नियन्त्रित करने के लिए, राजनैतिक नियमों का विधान किया गया है जिससे समाज में समुचित व्यवस्था सुरक्षा व शान्ति स्थापित हो सके। ‘कन्या-भ्रूण हत्या’ को भी सरकार ने सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध मानकर १९६४ में अधिनियम पारित कर लिंग सम्बन्धी जानकारी देने परप्रतिबन्ध लगा दिया। कुछ सरकारी व गैर सरकारी

संगठन भी इसके विरोध में कार्यरत हैं। परन्तु ये प्रतिबन्ध अभी तक पूर्णतः प्रभावी नहीं हो सके हैं। क्या मनुष्य का नैतिक पक्ष ऐसे कार्य की अनुमति देता है? यहाँ से एक नैतिक मूल्यांकन की शुरुआत होती है। नीतिशास्त्र आदर्शमूलक विज्ञान है। आदर्शमूलक विज्ञान में हम विषयों को कैसा होना चाहिए— इस दृष्टि से अध्ययन करते हैं। मूल्यांकन के लिए सदैव किसी मानक या आदर्श की जरूरत होती है। किसी विषय का मूल्यांकन करने का अर्थ है वह विषय उस मानक या आदर्श के अनुकूल है अथवा नहीं। यहाँ हम एमैनुअल काण्ट के नीतिशास्त्र पर विचार करें तो पायेंगे कि उन्होंने नैतिकता के ऐसे नियम बताये जिनको ध्यान में रखकर व्यक्ति को अपने कर्तव्य का निश्चय करना चाहिए।

१. सदैव उस सिद्धान्त के अनुसार कार्य करो जिसे तुम एक सार्वभौम नियम बन जाने की इच्छा कर सको।

२. इस प्रकार कार्य करो कि मानवता को चाहे वह तुम्हारे व्यक्तित्व में हो अथवा किसी दूसरे के व्यक्तित्व में, सदैव साध्य के रूप में प्रयोग करो, साधन के रूप में नहीं।

३. साध्यों के राज्य के एक सदस्य के रूप में कार्य करो।

काण्ट का यह नैतिक आदर्श निश्चित रूप से एक व्यापक दृष्टिकोण रखता है और “कन्या भ्रूण हत्या” जैसी मानसिकता को सही दिशा निर्देश करता है। अगर हम कन्या-भ्रूण हत्या का समर्थन करते हैं और सभी के द्वारा इसका समर्थन उचित मानते हैं तो हमें ऐसी स्थिति के लिए तैयार होना चाहिए, जब हमारे बेटों से ब्याहने के लिए कोई लड़की नहीं बचेगी और इस तरह से मनुष्य जाति का अस्तित्व ही संकट में पड़ जायेगा। भ्रूण-हत्या एक जीवन का अन्त है। एक ऐसी कन्या की हत्या है जो अपने प्रति किये गये अमानवीय व्यवहार का

कोई विरोध नहीं कर पाती। माँ-बाप का यह नैतिक दायित्व है कि वे अपनी संतान का संरक्षण करें, उसकी देखभाल, भरण-पोषण करें। नैतिकता की यही माँग है कि ऐसे हिंसात्मक कृत्य को अंजाम देने वाले माँ-बाप अपने कार्य का स्वयं मूल्यांकन करें।

कन्या-भ्रूण हत्या आधुनिक समाज की दूषित मानसिकता का परिचायक है। इस प्रकार के अमानवीय कृत्य को फलीभूत करने में माँ-बाप तो दोषी हैं ही लेकिन मुख्य रूप से उत्तरदायी हैं हमारे समाज में व्याप्त नारी विरोधी तत्त्व—दहेज, बलात्कार, यौन शोषण तथा लड़की को पराया धन और बोझ मानने वाले मिथक। मादा भ्रूण हत्या को रोकने हेतु इसके विरुद्ध अधिनियम पारित कर देना मात्र समस्या का समाधान नहीं है।

यहाँ विचारणीय विषय है कि उस समस्या की उत्पत्ति का क्या कारण है कि जन्म देने वाले माँ-बाप को ही हत्यारे का रूप लेना पड़ रहा है? अगर हम इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ लेते हैं तो इस समस्या के मूल कारणों तक पहुँच जायेंगे और यहीं से शुरु होगा इसके समाधान का प्रयास। इसके समाधान का स्वरूप होगा— “महिलाओं का सर्वांगीण विकास”। इसके लिए महिलाओं को सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक स्तर पर पुरुषों के समान अवसर प्रदान करना होगा, जिससे प्रत्येक क्षेत्र में महिलाओं की पुरुषों से स्वतन्त्र पहचान बन सके। लड़कियों के प्रति अनिच्छा के कारणों का मूल से सफाया होना चाहिए। आवश्यकता है एक व्यापक जन आन्दोलन की जिसमें समाज को लड़कियों के महत्त्व का बोध कराया जाए जिससे उनका संरक्षण व समुचित विकास सुनिश्चित हो। इसके लिए महिलाओं को स्वयं जागरूक होकर आगे आना होगा और महिलाओं के विरुद्ध हो रहे अन्याय के खिलाफ सक्रिय व निर्णायक प्रयास करने होंगे। ●

‘लकी’ नहीं, नचिकेता है युवा

डॉ. रजनीश कुमार शुक्ल

यह चर्चा बड़ी जोर पर है कि आज का युवा ‘लकी’ हो गया है यह लकी होना सौभाग्यशाली होना खराब नहीं होना चाहिए। ‘लकी’ होने का आचरण पाले लोग इसे खराब मानते भी नहीं हैं। लकी क्या है इससे देश के सभी युवा परिचित नहीं हैं। लेकिन यह भी नहीं है कि लम्बे समय तक नहीं रहेंगे। ‘लकी’ होना यानी खूब कमाने की ख्वाहिश और माँ बाप की कमाई को बेतहाशा उड़ाना पहली शर्त है। लकी वही है जो न तो आदर्शों के सपने देखता है न ही मर्यादा के बन्धन में बँधता है। वह अपने प्रयासों से दुनियाँ को बदलना नहीं चाहता है बल्कि हताश बूढ़े की तरह जैसी भी दुनिया है उसका उपभोग करना चाहता है। जिसकी साँसें सेलफोन के साथ धड़कती हैं; लेबल के पीछे जो दीवाना है, जो श्रीडी और श्रीसी यानी ड्रग, ड्रिन्क और डान्स तथा क्लब, कलर, केसिनो के बिना जी नहीं सकता। जो भविष्य के प्रति बेपरवाह है। जिसके लिये दुनियाँ मौज-मस्ती मात्र के लिये है। जिसके लिए युवक युवती के बीच सेक्स के अतिरिक्त भावनात्मक एवं रागात्मक किन्तु नैतिक सबन्ध संभव ही नहीं है। शायद यह भारत के युवा के यथार्थ को प्रस्तुत नहीं करता। शायद यह यथार्थ ही नहीं उसके सपनों को भी प्रस्तुत नहीं करता। ऐसा हो सकता है या मान लीजिए है भी तो, यह भारत का युवा नहीं है। भारत के रहने वाले कुछ युवा भले हो और ऐसा कोई कालखण्ड नहीं है जब युवाओं का एक वर्ग ऐसा नहीं था। हर युग में, हर कालखण्ड में कुछ प्रतिशत तो ऐसे होते ही हैं। जिनका दुनियाँ

से, समाज से कोई मतलब नहीं होता। यहाँ तक कि अपने परिवार से भी वास्ता नहीं होता। यदि इक्कीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में भी कुछ युवा ऐसे हैं, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि, पहली बार ऐसा समूह आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। पहली बार ऐसे गैरजिम्मेदार और भविष्य के प्रति अन्यमनस्क तथा ऐन्द्रिक संवेदन के स्तर पर जीवन जीने को एक अनूठी और लुभावनी जीवन शैली के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

सत्तर से अस्सी के दशक का एन्ग्री यंग मैन या ८० से ९० के दशक का यप्पी, इनकी भी चर्चा तो होती थी। लेकिन उनको, जो वैसे नहीं है उनके आदर्श के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जाता था। होने की सबके मन में चाहत पैदा हो, इसका कोई संगठित प्रयास भी दिखायी नहीं देता था। लेकिन ९० के बाद उदारीकरण ने उपभोक्ता क्षेत्र में जैसे-जैसे पश्चिम तथा भारत के बीच की दूरी कम की वैसे वैसे वर्जनामुक्त समाज हमारा आदर्श बना। ९५ के बाद सब ऐसे ही हो इसका पूरा प्रयास चल पड़ा, मुहिम शुरू हो गई और इस वर्ष तो देश की प्रमुख पत्र पत्रिकाओं ने ‘लकी’ होने को युवाओं की अन्तिम चाहत के रूप में प्रस्तुत करने का एक अभियान ही छेड़ दिया।

लेकिन यह भारत के युवा का यथार्थ नहीं है। भले ही कुछ युवाओं का सच हो। यदि यह समूचे भारत के युवा का आदर्श और यथार्थ दोनों नहीं है, तो भारत के युवा का सच जो है, जैसा है,

उसको सामने लाने की कोशिश होनी चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होगा, ऐसा इसलिए कि उससे बाजार का विस्तार नहीं होता है। यदि होता भी है तो उसमें युवा खरीददार नहीं विक्रेता की भूमिका में है। जी हाँ ऐसा ही है। संचारक्रान्ति के इस युग में भारतीय युवा पूरी दुनिया में प्रभावी हुआ है। इसकी प्रतिभा, श्रम शक्ति तथा लगन की प्रशंसा मुक्त कण्ठ से पूरा विश्व कर रहा है। भारत की युवा शक्ति हर काल खण्ड में कुछ सपने सजाती है, कुछ व्रत लेती है और उसे पूरा करती है। यही कारण है कि तमाम व्यवस्थात्मक संकटों, सरकार और समाज के स्तरपर तमाम निराशाजनक स्थितियों के होते हुए भी भारतीय युवाशक्ति ने असंभव को संभव कर दिखाया है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति से अब तक का समकालीन इतिहास अपने बुद्धि कौशल, स्वेद बिन्दु और रूधिर-प्रवाह से भारत को सशक्त समर्थ वैभवशाली और अजेय बनाने वाले युवाओं का इतिहास है। जब स्वतन्त्रता के बाद चारों ओर चुप्पी थी, भारत को चलाने के लिए बनने वाले संविधान पर संविधान सभा से बाहर कोई बताने वाला नहीं था। तब इस देश के युवाओं ने रचनात्मक संघर्ष का व्रत लिया और ४८,४९ का भारतीयकरण उद्योग नामक आन्दोलन खड़ा किया तो उसके व साथ हैदराबाद के निजामत के लिखाफ बन्देमातरम, आन्दोलन भी चलाया। सन् ६२ के चीन युद्ध में पराजय के बाद देश में स्तब्धता थी। पूर्वोत्तर के भारतीयकरण के प्रश्न ग्रन्थों और नक्शों से नहीं सुलझाये जा सकते थे, इसके लिए प्रत्यक्ष कार्य अपेक्षित था। तब कुछ युवाओं ने सरकार और शेष समाज के सहयोग की अपेक्षा किये बिना 'सील' नाम योजना जिसे बाद में 'अन्तर्राज्यीय छात्रजीवन दर्शन' नाम दिया, शुरू

की। पूर्वोत्तर के लोगों का शेष भारत से प्रत्यक्ष परिचय प्रारम्भ हुआ। ७४ का आन्दोलन तो युवा आन्दोलन ही था। भ्रष्टाचार के विरुद्ध ८६ का संघर्ष भी युवा मन की बेचैनी का प्रतिबिम्बन करता है। स्वच्छ समाज और स्वच्छ शासन के लिए उसके बद्ध परिकर होने का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

९५ के बाद भी देश में दो बड़ी घटनायें हुई। एक तो परमाणु विस्फोट के बाद आर्थिक प्रतिबन्ध जिसका सामना भारतीय युवा ने सूचनाविज्ञान और संगणक तकनीक में अपनी अपरिहार्यता को सिद्ध कर के दिया, तो कारगिल युद्ध में देश के अन्दर और सीमाओं पर अपने देश के लिये कुर्बानी करने की प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष दर्शन करा करके भारत के प्रति अपने समर्पण का परिचय दिया। ये युवक इतिहास के अंग नहीं हैं, वर्तमान हैं। संकट की हर घड़ी में अपने अदम्य पराक्रम और अपनी अप्रतिम मेधा के द्वारा इन्होंने हर यम से साक्षात्कार किया और मृत्यु के रहस्य को जानने के लिये मृत्यु देवता से भी साक्षात्कार करने की अपनी चिर पुरातन नाचिकेतस् वृत्ति प्रमाणित की। लकी के रूप में युवा शक्ति को ढालने की कोशिश चाहे संचार के माध्यम करे या परिचय के चश्मे से समाज के रंग को देखने के अभ्यस्त कथित बुद्धिजीवी। युवा भारत को वैभवशाली बनाने के लिये कृत संकल्प हैं। अपने सपने के समर्थ भारत को साकार रूप देने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हैं। अपनी राष्ट्रीय विरासतों के प्रति जो गर्व भाव भारतीय युवक में है, वह किसी भी समाज के लिए स्पृहा का कारण होना चाहिए और उसको पूरे देश में समर्थन मिलना चाहिए। उदारीकरण को आत्मसात् कर वैश्विक संस्कृति में अपने को विलीन कर नितान्त सत्त्वहीन बनने की लालसा वाले जिस

युवक की तस्वीर आज प्रस्तुत की जा रही है, उसके बजाय अच्छा होता कि गंगा की सफाई कर रहा युवा, विदेशी कम्पनी और विदेशी संस्कृति के खिलाफ लड़ रहा युवा, भारत के कामगारों, दस्तकारों और भारतीय उद्यमियों के लिए बाजार बनाने की कोशिश में लगा युवा, वृक्षारोपण कर रहा युवा, देश समाज के संगठन के लिये अपनी नौजवानी को कुर्बान कर रहा युवा हमारी चर्चा का विषय होता। युवाओं का यह वर्ग 'सेलफोन' के साथ जीवन की नब्ज को जोड़ रखने वाले युवा, क्लबों में प्रति रात्रि पाँच हजार तक खर्च करने वाले युवा से कहीं बड़ा है, व्यापक है। वह शहरों में भी है और गांवों में भी। यह युवा महानगरों के रात की रौनक नहीं है। भारत के सुनहले भविष्य के लिये अपने को जला कर प्रकाशमय बना देने वाला है। ऐसा भी नहीं वह कुंठित हो, उदास हो। मुट्ठी भर बिगड़े युवकों की अपेक्षा वह अधिक उल्लासमय जीवन जी रहा है, अधिक प्रफुल्लित जीवन जी रहा है।

शायद युवकों पर लिखने वाले लोग लेखन की सामान्य शर्तों का भी उल्लंघन कर रहे हैं। लेखन किसी ज्ञान को इस तरह से प्रस्तुत करना है जिसमें भाषा का प्रवाह हो, विषय वस्तु में पूर्वापर का पालन हो। चमत्कार पूर्ण शैली में विषय की प्रस्तुति तो हो, किन्तु उसमें लोकधर्मों का ऐसा चित्रण हो जो अपने पड़ोस में घटता हुआ दिखाई दे। फंतासी लेखन समाज का चित्रण नहीं होता। फंतासी लेखक तो हर पाठक को सबसे पहले चेतावनी देता है कि सभी घटनायें काल्पनिक हैं। लेकिन आज युवा मन और युवा जीवन के बारे में लिखने वाले, कुछ के बीच घटने वाले सत्य को सार्वभौमिक कर, सब पर आरोपित करने का प्रयास कर रहे हैं। आदर्शों का सार्वभौमिकीकरण तो होता ही है लेकिन इसलिए कि सगुण विकास की गति को प्रोत्साहित किया जा

सके। संस्कृति के संवर्धन के प्रयासों में कुछ लोगों के गुण सब में उतरें, इसके लिए उसको आशावादी दृष्टिकोण के साथ लेखक प्रोत्साहित करते हैं। यह रचनाकार का धर्म है और सृजनात्मक कल्पना की मांग भी। लेकिन जब अंधेरे को, हताशा को प्रोत्साहित किया जाता है तो, वह या तो विकृति है या अपसंस्कृति। अभी युवा के जिस स्वरूप को सामने रखा जा रहा है, उसको युवक का आदर्श नहीं बनाया जा सकता। आहार, निद्रा, भय और मैथुन ये तो सभी में समान हैं, इसको विस्तारित कर उसकी सीमाहीन प्राप्ति के प्रयास को आज के युवा के स्वभाव के रूप में प्रस्तुत करना किसी विधि राष्ट्र के चित्त, मानस और काल को प्रस्तुत करने की कोशिश नहीं कही जा सकती है।

साहित्य या समाचार दृष्टिकोण से मुक्त नहीं होता है, इसलिए युवाओं के सबन्ध में जो कुछ कहा जा रहा है, लिखा जा रहा है, वह भी दृष्टिकोण मुक्त तो नहीं हो सकता है। किन्तु मात्र रोचकता के लिए कुछ अलग और नया दिखाने के लिए विकृति को महिमामंडित करने वाला लेखन राष्ट्र और समाज के विरोध में खड़ा होता है। समाज रचना के केन्द्र में युवक ही हैं, समाज का सबसे बड़ा सर्वाधिक संवेदनशील सबसे ज्यादा ऊर्जा वाला, सबसे अधिक सक्रिय यह वर्ग चुनौती चाहता है और उसे स्वीकार करने के लिए प्रोत्साहन चाहता है। यह जो कुछ जैसा है, वैसा ही नहीं स्वीकार करता अपितु उसको बदलता भी है। अपने सपनों से साम्य होने पर ही स्वीकार करता है। यही कारण है कि भारत में आधुनिक युग और उसकी बुराई यूरोप में अन्तिम वर्षों में जब राष्ट्रीय आय के ३३ प्रतिशत भाग का उपभोग करने वाला ६ प्रतिशत उपभोक्ता वर्ग तैयार हुआ है।

शेष अंक पृष्ठ सं ६३ पर

राष्ट्र-निर्माण एवं गाँधी-दर्शन

डॉ० उपासना पाण्डेय

राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया एवं उसमें गाँधी-दर्शन की प्रासंगिकता को समझने से पूर्व 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ स्पष्ट करना आवश्यक है। अपने प्राचीन अर्थों में राष्ट्र प्रायः ऐसे लोगों के समूह को कहा जाता है जो एक ही प्रजाति, भाषा, धर्म, संस्कृति, भौगोलिक सघनता इत्यादि के कारण निकट से जुड़े होते हैं और एक जैसी राजनीतिक आकांक्षाओं तथा एक जैसे विकास के कारण एकता की भावना से प्रेरित होते हैं। परन्तु राष्ट्र की इस पुरानी संकल्पना के अधिकांश तत्त्व जन्म की परिस्थितियों पर आधारित थे और अपनी प्रकृति में संकुचित थे।

राष्ट्र-राज्य की आधुनिक परिभाषा के तहत राष्ट्र को राज्य के संगठन की उपयुक्त इकाई माना जाता है। राष्ट्र की आधुनिक संकल्पना के अनुसार राष्ट्र उन लोगों के समूह को कहते हैं जो स्थायी रूप से एक ही निर्दिष्ट भूभाग में रहते हैं और समान राजनीतिक आकांक्षाओं, सामान्य हितों, सामान्य इतिहास और सामान्य नियति की चेतना के कारण एकता के सूत्र में बंधे हुए अनुभव करते हैं हाँलाकि उनका सम्बन्ध भिन्न-भिन्न राष्ट्रीयताओं से हो सकता है। दूसरे शब्दों में भिन्न-भिन्न प्रजातियों के लोग भिन्न-भिन्न धर्मों, भाषाओं और संस्कृतियों इत्यादि से सम्बन्ध रखते हुए भी जब तक एक ही राज्य के नागरिकों के रूप में एक साथ रहते हैं, और एक ही राज्य के प्रति अखण्ड निष्ठा रखते हुए उसके लिए तन-मन-धन न्यौछावर करने को तैयार रहते हैं, तब वे एक ही राष्ट्र के रूप में अपनी पहचान बनाते हैं।

स्पष्ट है एक ही राज्य के भीतर विभिन्न

प्रजातियों, धर्मों, भाषाओं, संस्कृतियों के लोग एक साथ रहते हैं तो मतभेद की सम्भावना को दूर करने के उद्देश्य से राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया की अवधारणा को प्रस्तुत किया जाता रहा है। जिसके तहत विभिन्न दिशाओं में कार्य करने की आवश्यकता होती है। राष्ट्र-निर्माण का अर्थ है एक ऐसी मनोवैज्ञानिक एकता को प्रेरित करना जहाँ भाषायी, क्षेत्रीय, वर्गीय, जातीय, नस्लीय, सम्प्रदायी भेदभाव के लिए कोई स्थान ही न रह जाए। नागरिक भ्रातृत्व की भावना से ओत-प्रोत हो, मतभेदों को दरकिनार कर सभी राष्ट्र के लिए समर्पित हो जाने के लिए तत्पर हो जावें। ऐसी मनोवैज्ञानिक एकता को बनाना यदि राष्ट्र-निर्माण के मार्ग का प्रथम सोपान है तो भू-भागीय एकता को बनाना इस मार्ग का द्वितीय एवं महत्त्वपूर्ण सोपान है। यह लक्ष्य तभी प्राप्य है जब नागरिक सम्प्रदाय अथवा क्षेत्र के आधार पर अलगाव-विलगाव की भावना को समाप्त करें। ऐसा तभी सम्भव है जब उन कारणों का पता लगाया जाए जो पृथकता की प्रवृत्ति को उत्प्रेरित करता है। प्रायः राज्य का कोई भू-भाग, जन-जाति, वर्ग-सम्प्रदाय तभी पृथकता की माँग करता है जब वह स्वयं को मुख्यधारा से उपेक्षित महसूस करता है। इस उपेक्षिता का कारण राज्य का राजनैतिक रूप से अस्थायी होना अथवा आर्थिक रूप से कमजोर होना है। अतः राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में आवश्यक है कि राज्य राजनैतिक रूप से स्थायी होवें तथा आर्थिक रूप से समृद्ध होवें। जिससे सभी की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके एवं राष्ट्रीय-एकता की सुदृढ़ता को सुनिश्चित किया जा सके। पुनः कभी-कभी नौकरशाही अथवा

सत्ताधारियों का कठोर अधिनायकवादी व्यवहार भी राष्ट्र-निर्माण की स्वाभाविक प्रक्रिया को प्रभावित करता है। अतः सत्ता का लोकतन्त्रीकरण अथवा लोकतन्त्र का अनुदैध्य एवं अनुलग्न विकास भी राष्ट्र-निर्माण की अत्यन्त आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण कसौटी है।

राष्ट्र एवं राष्ट्र-निर्माण के शाब्दिक स्पष्टीकरण के पश्चात् यह जानना भी आवश्यक है कि पश्चिमी एवं पूर्वी विचारकों ने अपने-अपने विभिन्न दृष्टिकोणों द्वारा राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया को कैसे प्रस्तुत किया है। जहाँ पश्चिमी विचारक नृवैज्ञानिक दृष्टिकोण (anthropological perspective) अपनाते हैं वहीं पूर्वी विचारक समष्टिवादी दृष्टिकोण (cosmological perspective) को अपने चिन्तन का आधार बनाते हैं। पश्चिमी नृवैज्ञानिक दृष्टिकोण का व्यावहारिक मानक वैयक्तिकता, विभिन्नता एवं पृथक्ता है। जबकि पूर्वी समष्टिवादी दृष्टिकोण समत्व की चेतना से संचालित है। यही कारण है कि पश्चिमी चिन्तन में समाज व्यक्तिगत अधिकार, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं प्रतिस्पर्धा का हिमायती है और पूर्वी चिन्तन में समाज सामूहिक उत्तरदायित्व बोध, सहयोग एवं अन्तःनिर्भरता के मूल्यों पर आधारित है। पश्चिम के सभ्यता का निर्माणकारी सूत्र-योग्यतम का संरक्षण है। परन्तु इसके ठीक विपरीत पूर्वी समाज में व्यक्ति की पहचान ही समष्टि की पहचान पर निर्भर है। अतः उनका प्रयास व्यक्ति के साथ सामाजिक मूल्यों को महत्व देना भी है। यही कारण है कि पूर्वी देशों की सभ्यता समष्टि एवं प्रकृति के बीच से प्रस्फुटित एवं प्रस्फुरित होती है। सी.बी. मैक्फर्सन जैसे पश्चिमी उदारवादी विचारक जहाँ स्वतन्त्रमूलक व्यक्ति (Possessive Individualism) की संकल्पना (व्यक्ति स्वभावतः अपने शरीर एवं क्षमताओं का स्वामी है

और इसलिए समाज का बिल्कुल ऋणी नहीं है) प्रस्तुत करते हैं वहीं महात्मा गाँधी जैसे भारतीय विचारक वैयक्तिक विशेषताओं के साथ सामाजिक मूल्यों, मानवीय उत्तरदायित्वों को विशेष रूप से प्रेषित करते हैं एवं इन्हें व्यक्तित्व निर्माण का महत्त्वपूर्ण कारक मानते हैं। पश्चिमी समाज जहाँ व्यक्तिवाद से बँधा है, पूर्वी समाज एकत्व-बोध से। पश्चिम में 'मैं' सर्वोपरि है, पूरब में 'स्व' स्वयं का परिचय समाज व इनके सम्बन्धों से प्राप्त करता है (मातृ-ऋण, पितृ-ऋण, गुरु-ऋण की परम्परा)।

राष्ट्र-निर्माण की गाँधीवादी प्रक्रिया उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों के महत्त्व को अंगीकृत करते हुए एक अलग अवधारणा को प्रस्तुत करती है। राष्ट्र-निर्माण की प्रथम आवश्यकता है किसी भी प्रकार के भेदभाव का अन्त। पश्चिमी विचारकों के अनुसार राज्य अथवा शक्ति के माध्यम से इस भेदभाव का अन्त किया जा सकता है। राज्य से सभी को समान अधिकार मिले। राज्य सभी को बिना किसी भेदभाव के समान कानूनी संरक्षण प्रदान करे। परन्तु गाँधी-दर्शन का लक्ष्य 'राज्य' या किसी भी प्रकार की शक्ति का ही अन्त कर देना है इसलिए इस दर्शन की मान्यता है कि असल दर्शन थोपा नहीं जा सकता, कृत्रिम रूप से प्रेम निर्मित नहीं किया जा सकता, आवश्यक है कि राष्ट्र-प्रेम का प्रस्फुटन स्वतः ही अन्तःकरण से हो। अतः मतभेद के कारणों को जानना व समझना होगा और यहीं पर गाँधी-दर्शन सत्य की संकल्पना को प्रस्तुत करता है। सत्य क्या है? जो है, जिसका अस्तित्व इस धरा पर है वह सत्य है। अर्थात् विभिन्न राष्ट्रीयता, जातीयता, इत्यादि सत्य है। सभी की अपनी-अपनी पद्धतियाँ, सभी की अपनी जीवन दृष्टियाँ हैं। ऐसा हमें समझना होगा, मानना होगा। और इस यथार्थ को समझने का गाँधीवादी ऋणी नहीं है।

निरपेक्ष सत्य की अवधारणा। सापेक्ष सत्य वैयक्तिक सत्य है। एक निश्चित समय व परिस्थिति में जो व जितना मुझे समझ आता है वही मेरा सत्य है। परन्तु साथ ही यह भी जानना होगा कि जितना मुझे मालूम हो रहा है उतना ही सत्य नहीं है। इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति को और अधिक समझने व जानने के लिए भी प्रेरित रहना होगा, यही प्रेरणा निरपेक्ष सत्य देती है। निरपेक्ष सत्य अथवा अन्तिम सत्य, सर्वोपरि सत्य, इस तक पहुँचने का प्रयास सभी अपने-अपने सापेक्ष सत्य द्वारा करेंगे। ऐसी मनोवृत्ति ही एक राज्य में, समाज में स्वस्थ एवं सम्पूर्ण एकता को पल्लवित कर सकती है।

परन्तु प्रायः ऐसा देखने में नहीं आता। सभ्यताओं का संघर्ष, एक ही सभ्यता के विभिन्न टुकड़े इसका प्रमाण है। हर एक सभ्यता चाहती है कि उसी की श्रेष्ठता स्थापित हो, उसी के अनुरूप दुनिया चले। आतंकवाद से ग्रसित एवं सम्प्रदायवाद से दिग्भ्रमित आज का समाज इसका मूक दर्शक है। यह यथार्थ ही आज का सच बनता जा रहा है। ऐसी यथार्थता के बीच गाँधीवादी सत्य की धारणा आदर्श बनकर रह गयी है। ऐसा क्यों है? क्यों आदर्श यथार्थ में परिणत नहीं हो पाता? क्या कारण है?

कारण है समाज का दूषित होना। वस्तुतः स्वभाव से सभी व्यक्ति अच्छे हैं। सभी जानते हैं कि सत्य एवं प्रेम ही जीवन का सत्य है। परन्तु समाज का दूषित एवं प्रतिस्पर्धी स्वार्थी वातावरण उसे कुत्सित बनने पर मजबूर करता है। अतः आवश्यक है कि समाज को अच्छा बनावें, समाज को मानवीय व सहयोगी बनावें। और एक मानवीय समाज की प्राप्ति गाँधी-दर्शन के अनुसार अहिंसा द्वारा ही सम्भव है।

अहिंसा के दो अर्थों की विवेचना गाँधी-दर्शन

में मिलती है— हिंसा का अभाव (नकारात्मक) तथा सक्रिय प्रेम (सकारात्मक)। हिंसा का अभाव अर्थात् हिंसा के सभी कारणों, साधनों, उपकरणों की समाप्ति एवं बाह्य-रूप में समाज को हिंसा मुक्त बनाना। परन्तु मनोवैज्ञानिक-एकता जो कि राष्ट्र-निर्माण का महत्त्वपूर्ण अंग है, तभी प्राप्त होगी जबकि हृदय में सक्रिय प्रेम की भावना का विकास हो। समाज का हर व्यक्ति अपने राष्ट्रवासी के लिए सहयोगी बने। मानव सम्बंधों के बीच शंका का विस्थापन श्रद्धा से हो जावे। समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने देश के लिए सर्वस्व समर्पित करने को हमेशा ही तत्पर रहे। परन्तु हिंसा से प्रभावित आज के समाज में पुनः अहिंसा भी आदर्शात्मक धारणा ही बन गयी है। परमाणुवीय शक्ति एवं रासायनिक हथियारों से लैस आज मानव सभ्यता ने जो भयावह एवं स्वयं संहारक रूप धारण कर लिया है उसमें सम्पूर्ण मानव जाति समाती चली जा रही है। युद्ध से पुनः युद्ध की उत्पत्ति हो रही है। अफगानिस्तान, ईराक, ईरान का क्रमशः विनाश बिना किसी रोक टोक बदस्तूर कायम है। इस स्थिति से दुनिया पार नहीं पा रही है। सभी हैरान हैं। विचारक व बुद्धिजीवी परेशान हैं। खोज जारी है। प्रश्न सभी के मन में है। सभी समाधान की ताक में हैं।

हिंसा से भयग्रस्त समाज में जहाँ अहिंसा की बात आदर्शात्मक प्रतीत होती है, वहीं यथार्थ यह भी है कि अहिंसायुक्त एवं प्रेमपूर्ण समाज की स्थापना की कल्पना से हम मुक्त नहीं हो पाये हैं और न ही कभी होंगे, क्योंकि प्रेम की प्राप्ति एवं शान्ति की अभिलाषा ही मानव प्रकृति है। ज्यों-ज्यों हम युद्ध की अग्नि में जलते हैं, त्यों-त्यों अहिंसा के मर्म को समझते हैं। यही कारण है कि पिछले दो दशकों में जैसे-जैसे आतंकवादी समस्याएँ बढ़ी हैं, उसी रफ्तार में प्रायः उन विचारकों, संस्थाओं एवं

विचारों का भी उद्बोधन हुआ है जो अहिंसा की सार्थकता का प्रमाण हैं। जैसे—मानवाधिकार की चर्चा, महिला—उत्थान एवं महिला सशक्तीकरण के प्रयास, उपाश्रितों के प्रति संवेदनशीलता, संघर्ष निवारण की विभिन्न पद्धतियों का विकास, शान्ति—स्थापना के अनेक प्रयास इत्यादि। स्वयं मानवीय मूल्यों के प्रति समर्पित यह पुस्तिका भी इसी प्रक्रिया का एक अंग है। तात्पर्य यह है कि अहिंसा की धारणा अब भी प्रासंगिक है, हमारे कार्य—कलापों, विचारों में है। अतीत या आदर्श कहकर इसे हम व्यतीत नहीं मान सकते।

यही समय है जब सत्याग्रह की सार्थकता कहीं अधिक है। क्योंकि गाँधी—दर्शन के अनुसार हिंसा के साधन जितने पक्के होंगे सत्याग्रही उतना ही दृढ़ व निर्भयी बनेगा। परन्तु आज के विस्फोटक परमाणुवीय समय में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि परमाणु हथियार के आगे सत्याग्रही का अस्तित्व क्या खतरे में नहीं है? और ऐसे में सत्याग्रह की सार्थकता ही क्या है? इन क्रान्तिकारी प्रश्नों को न तो अनदेखा किया जा सकता है और न ही महत्वहीन कहा जा सकता है। और यही द्वन्द्व साधारण जनमानस के मन में भी है कि जब उनका राज्य, उनकी सरकार, उनका अपना समाज व राष्ट्र उनकी प्राण रक्षा करने में, उनकी प्रतिदिन की आर्थिक व मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ नहीं है तो क्यों और कैसे उनके मन में राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय एकता, मानवता व नैतिकता जैसी भावना का उद्बोध हो।

कुछ लोगों का ऐसा मानना है कि गाँधी व उनका दर्शन एक विकट परिस्थिति का परिणाम है, आज के वातावरण में वह सम्भव नहीं है। परन्तु यदि गाँधी का व्यक्तित्व किसी विशेष परिस्थिति का परिणाम है तो आज स्थिति कहीं अधिक विकट है।

इससे त्राण तभी मिल सकता है जब मानवीय समाज के निर्माण के लिए हजारों लाखों मूल्ययुक्त व्यक्ति एक साथ आगे आवें। आज मात्र भारत को नहीं समस्त विश्व को गुलाम मनःस्थिति से आजाद करना है। ऐसी विशेष स्थिति में अब एक व्यक्ति, एक राष्ट्र व एक समाज का सत्याग्रही होने से काम चलने वाला नहीं है। सभी को सत्याग्रही होना होगा। सभी को बुद्ध, शंकर, पैगम्बर, ईसा मसीह व गाँधी होना पड़ेगा। सभी को अपनी आहुति देनी होगी। तभी समाधान होगा। तभी राष्ट्र निर्माण होगा, तभी विश्व शान्ति की संस्कृति पुष्पित व पल्लवित होगी। इसी सन्दर्भ में गाँधी कहते हैं कि उनके सपनों के भारत में “जिन्दगी मीनार की शकल में नहीं होगी जहाँ ऊपर की तंग चोटी को नीचे के चौड़े पाये पर खड़ा होना पड़ता है। वहाँ तो समुद्र की लहरों की तरह जिन्दगी एक के बाद एक घेरे की शकल में होगी और व्यक्ति उसका मध्यबिन्दु होगा। वह व्यक्ति हमेशा अपने गाँव की खातिर मिटने को तैयार रहेगा। गाँव अपने इर्द—गिर्द गाँवों के लिए मिटने को तैयार रहेगा। इस तरह आखिर सारा समाज ऐसे लोगों का बन जाएगा, जो उद्धत बन कर कभी किसी पर हमला नहीं करते बल्कि हमेशा नम्र बने रहते हैं और अपने आप में समुद्र की उस शान को महसूस करते हैं जिसके वे एक जरूरी अंग हैं।” अर्थात् गाँधी दर्शन व्यक्ति, ग्राम, समाज को स्वशासित एवं आत्मनिर्भर होने की आवश्यकता पर बल देता है।

वास्तव में आज का भौतिकवादी समाज भौतिक लोलुपता के कारण अत्यधिक प्रतिस्पर्धी, स्वार्थी, हिंसात्मक व असत्यवादी बन गया है। धन की अधिक—से—अधिक प्राप्ति की चाहत ही व्यक्ति को समाज को वर्तमान समय में दूषित व कुत्सित किये हुए है। ऐसे में गाँधी—दर्शन अपरिग्रह, न्यास

के सिद्धान्त तथा स्वदेशी की भावना पर जोर देता है, जो प्रायः आलोचनात्मक दृष्टिकोण से देखा जाता है। जब सभी सामाजिक व्यवस्था धन द्वारा ही परिचालित व नियन्त्रित हो, तो धन की महत्ता को अस्वीकृत भी नहीं किया जा सकता है। गाँधी-दर्शन के अनुसार यदि प्रत्येक सामाजिक इकाई आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने को प्रयासरत हो तो समाधान पाया जा सकता है। परन्तु आवश्यकता है आत्मनिर्भरता के साथ आत्मसंयमी होने की, एक को नहीं सभी को। तभी राजनैतिक स्थायित्व की प्राप्ति होगी। तभी सत्ता लोकाभिमुख होगी, लोकतान्त्रिक होगी तथा राष्ट्रीय भावना का वास्तविक निर्माण होगा।

निष्कर्षतः आज राष्ट्र-निर्माण मात्र राज्य का उत्तरदायित्व नहीं है। सभी को, भले वे नागरिक हों, नौकरशाह हों, इस प्रक्रिया में अपनी आहुति देनी होगी। समूची मानव जाति आज पर्यावरण संकट, आतंकवाद, सम्प्रदायवाद, भौतिकतावाद, साम्राज्यवाद, जैसी अनन्त समस्याओं का सामना कर रही है। सभी समाधान की ताक में हैं। परन्तु अब हमें यह समझना होगा कि वर्तमान परिस्थिति में मात्र एक गाँधी अथवा उन्हीं के दर्शन की बार-बार वैचारिकी पड़ताल से ऊपर उठकर नवीन दर्शन व मूल्यों को निर्मित करना होगा। हमें यह मानना होगा कि आज मानव सभ्यता विकास के जिस सोपान पर है वहाँ लड़ाई सभ्यताओं के सर्वोच्चता की नहीं, उन्हें बचाये रखने की होनी चाहिए। पश्चिमी व पूर्वी विचार चिन्तन में कौन अच्छा है, लड़ाई इसकी न होकर इस बात की हो कि कौन ज्यादा सहज अथवा मानवीय है। उसी मार्ग पर सम्पूर्ण विश्व आगे बढ़े व भातृत्व की प्राप्ति करे। ऐसा राष्ट्र-निर्माण ही वास्तविक व यथार्थ होगा। ●

पृष्ठ सं ५७ का शेष अंश

युवकों में देश की स्वाधीनता के लिये लड़ने की जो उमंग थी, उसका अभी भी अभाव नहीं है। यही कारण है कि युवक अकाल, भुखमरी, भूकंप, बाढ़ और युद्ध में अपने को प्रथम स्वयंसेवी के रूप में प्रस्तुत कर गौरव का, सन्तोष का अनुभव करता है। आज यदि कमी आयी है, तो नेतृत्व में आस्था की। परिणामतः समाज का नेतृत्व कर रहे लोगों के आवाहन आज युवकों को उद्वेलित नहीं करते, मन में उमंग और श्रद्धा के भाव से नेतृत्व का अनुसरण करने वाला युवा नहीं दिखाई देता। लेकिन आज भी बाढ़ में डूबते किसी व्यक्ति को बचाने लिये अपनी जान जोखिम में डाल कर कूद पड़ने वाले युवाओं का अकाल नहीं आया है। शत्रु राष्ट्र के आक्रमण के समय सेना में भरती होने के लिए, इसलिए भरती होने के लिये कि युद्धक्षेत्र में गोली खाने का अवसर मुझे भी प्राप्त हो, भर्ती केन्द्रों पर गोली तक खाने के लिये उत्साहित युवा भारत में ही मिलते हैं। युवा नीति एवं व्यवहार को लेकर, यदि कोई अभाव और निराशा है तो नेतृत्व के प्रति विश्वास का संकट, युवा के लिये अनुकरण योग्य समकालीन आदर्श का अभाव तथा आदर्शों के पथ पर चलने के लिए प्रोत्साहन की दरिद्रता। आज भी भारतीय युवा मे हनुमान जैसी शक्ति, भरत जैसा सेवा भाव, कृष्ण सा योगिसुलभ लास्य, बुद्ध की करुणा, छत्रपति शिवाजी की युयुत्सा, प्रताप सा गौरव-भाव तथा विवेकानन्द सी मेधा और उत्साह पर्याप्त है। किन्तु उसके प्रस्फुटन के लिये, अंकुरण के लिये जिस उष्ण, आर्द्र भावभूमि की आवश्यकता है, वह दिखाई नहीं देती। इसको बना ले तो भारत का युवा समृद्ध, समर्थ और संस्कृत भारत का स्वप्न साकार कर देगा। ●

केन्द्र द्वारा आयोजित कार्यक्रमों का संक्षिप्त प्रतिवेदन

(जुलाई २००६ से अप्रैल २००७ तक)

* केन्द्र ने ३१ जुलाई से १२ अगस्त, २००६ तक विधि संकाय के सभागार में विश्वविद्यालय के शिक्षकों और अधिकारियों के लिए एक कार्यशाला का आयोजन किया। जिसका विषय था— “व्यक्तिगत जीवन एवं कार्यक्षेत्र में उत्कृष्टता के लिए जीवन—मूल्य एवं व्यावहारिक कौशल”। इस कार्यशाला में विभिन्न विभागों के २५ अध्यापकों और अधिकारियों ने भाग लिया। इन सभी ने इस कार्यशाला की सफलता और उपयोगिता के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण विचार रखे तथा इस तरह की कार्यशाला का आयोजन बार—बार करने की आवश्यकता पर बल दिया।

* केन्द्र द्वारा २५ सितम्बर से ४ नवम्बर, २००६ तक विश्वविद्यालय के छात्र—छात्राओं के लिए प्राथमिक कार्यशाला का आयोजन किया गया। जिसमें लगभग १५० छात्र—छात्राओं ने भाग लिया। उनके साथ विभिन्न सत्रों में विश्वविद्यालय के १५ वर्तमान और पूर्व प्राध्यापकों तथा ५ प्रशासनिक अधिकारियों ने संवाद किया।

* प्राथमिक कार्यशाला से चयनित ३० छात्र—छात्राओं हेतु दस दिवसीय सघन कार्यशाला का भी आयोजन ६ नवम्बर से १६ नवम्बर, २००६ तक किया गया। इस कार्यशाला से प्रेरित होकर प्रतिभागियों ने निरन्तर केन्द्र से जुड़े रहने और मूल्य परक जीवन जीने के अपने संकल्प को व्यक्त किया। यह कार्यशाला आशा से अधिक सफल रही।

* ४ दिसम्बर से ६ दिसम्बर, २००६ के मध्य पावर ग्रिड कार्पोरेशन ऑफ इण्डिया के अधिकारियों के लिए “व्यक्तिगत जीवन एवं कार्यक्षेत्र में उत्कृष्टता के लिए जीवन—मूल्य एवं व्यावहारिक कौशल” विषयक तृतीय कार्यशाला का आयोजन किया गया। इन सभी अधिकारियों ने पुनः ऐसी कार्यशाला में भाग लेने की अपनी प्रबल इच्छा जताई।

विशिष्ट व्याख्यान

* केन्द्र द्वारा दो विशिष्ट व्याख्यानों का आयोजन क्रमशः २३ नवम्बर और २५ नवम्बर २००६ को किया गया। प्रथम व्याख्यान के मुख्य वक्ता प्रख्यात चिन्तक डॉ० भरत झुनझुनवाला थे, जिन्होंने “आधुनिक बाजारवाद के सकारात्मक एवं नकारात्मक पक्ष” विषय पर अपनी सारगर्भित प्रस्तुति दी। द्वितीय व्याख्यान के मुख्य वक्ता मूल्य विषयक चिन्तक में वर्षों से संलग्न ऋषितुल्य चिन्तक प्रो० धर्मपाल मैनी थे। जिन्होंने “आधुनिक जीवन के सन्दर्भ में मूल्यों का विश्लेषण” विषय पर अपने विस्तृत और गंभीर चिन्तन को श्रोताओं के सम्मुख रखा। यह दोनों विशिष्ट व्याख्यान अत्यन्त प्रेरणास्पद रहे।

* तृतीय व्याख्यान श्री वरुण विद्यार्थी, निदेशक मानवोदय संस्थान, लखनऊ द्वारा फरवरी (द्वितीय सप्ताह) २००७ में संभावित है।

विशिष्ट कार्यक्रम

* ‘बायोएथिक्स’ विषय पर एक दिवसीय सेमीनार—सह—कार्यशाला, १८ दिसम्बर, २००६ को सम्पन्न हुई। जिसके मुख्य अतिथि प्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ० लालजी सिंह थे।

* ‘पर्यावरण आचार शास्त्र’ विषय पर सेमीनार—सह—कार्यशाला का आयोजन १०—११ मार्च, २००७ में होना सुनिश्चित हुआ है।